साहित्य-रत्न माला—१

[संरक्षक—श्रीमान् ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत बी० ए०
जागीरदार खाचरियावास (जयपुर)]

साहित्यालोचन

अर्थात्

साहित्य के अंगों और उपांगों का
विवेचन और निरूपण

लेखक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

(फेलो और अध्यापक काशी विश्वविद्यालय, मंत्री और स्थायी
सभासद काशी नागरीप्रचारिणी सभा)

प्रकाशक

रामचंद्र वर्म्मा

साहित्य-रत्नमाला कार्यालय, काशी।

दूसरी बार
१५००

सं० १९८४ वि०

मूल्य २)
बढ़िया संस्करण ३)

प्रकाशक
रामचंद्र वर्मा,
साहित्य रत्न माला कार्यालय,
काशी





मुद्रक
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड,
काशी। ६६२-२७

प्रकाशक का निवेदन

प्राय पाँच छ वर्षों से मेरी इच्छा थी कि मैं कोई पुस्तक-माला निकालूँ। यों तो यह कोई बहुत कठिन काम नहीं था, पर मेरे जैसे आलसी, सतोषी और सब प्रकार की झझटो से दूर रहकर अपनी अल्प योग्यता के अनुसार, और वह भी केवल जीविका निर्वाह के उद्देश से, मातृभाषा की यत्किंचित् सेवा करनेवाले व्यक्ति के लिये अवश्य ही कठिन था। पुस्तक-माला और उसमें प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों के सम्बन्ध में मेरे जो अनेक उच्च विचार और आदर्श थे, वे मेरी कठिनता और भी बढा देते थे और पुस्तकमाला का कार्य्य आरभ करने में और भी बाधक होते थे। एक ओर पुस्तकमाला निकालने के लिये मेरी उत्सुकता बढती जाती थी, और दूसरी ओर कठिनाइयो तथा बाधाओं का ढेर लगता जाता था। यहाँ तक कि अन्त मे मैं एक प्रकार से निराश सा हो गया और मैंने समझ लिया कि मेरे किए कुछ भी न हो सकेगा। होता भी कहाँ से? विचार थे बहुत ऊँचे, और साधनों का था बिलकुल टोटा। इसलिये मैंने सोच लिया था कि उच्चाकाक्षाओ का पीछा छोडकर ज्यो त्यों अपना काम करते चलना ही अच्छा है। कहीं ऐसा न हो कि पुस्तकमाला के फेर मे पड़कर साहित्य-सेवा का सौभाग्य भी खो बैठूँ।

पर लोग कहते है कि जिस काम की मन को लगन होती है, कभी न कभी उसके साधन भी आपसे आप आकर प्रस्तुत हो

जाते हैं। बस ठीक यही बात इस पुस्तकमाला के प्रकाशन के सम्बन्ध में भी हुई। प्राय पाँच मास हुए, श्रद्धेय अब (राय साहब) बा० श्यामसुंदरदास जी ने यों ही मुझसे अपनी इस नवीन पुस्तक 'साहित्यालोचन' का जिक्र किया और उसकी कुछ हस्तलिखित प्रति भी मुझे दिखलाई। बस ऐसी उत्तम और (हिंदी में) अभूतपूर्व पुस्तक देखकर उसे प्रकाशित करने के लोभ को मैं सवरण न कर सका। मैंने अपनी यह इच्छा डरते डरते बाबू साहब पर प्रकट की। मुझे डर केवल इस बात का था कि पुस्तक माला के प्रकाशन-कार्य्य में मैं समर्थ हो सकूँगा या नहीं। बाबू साहब मुझ पर सदा से बहुत अधिक कृपा रखते आए हैं और मुझे अपने छोटे भाई के समान मानते आए हैं। आपने तुरन्त बिना कुछ पूछे मेरी प्रार्थना स्वीकृत कर ली और मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था करने की आज्ञा दी। मैंने भी ज्यों त्यों सब प्रबध करके इस ग्रन्थ रत्न से अपनी साहित्य-रत्न-माला का आरभ कर दिया है। मैं चाहता तो यह हूँ कि इस माला में आगे भी इसी कोटि के श्रेष्ठ और स्थायी ग्रन्थ प्रकाशित हों और यह माला हिंदी-ससार में एक उच्च स्थान प्राप्त कर ले, पर इस आशा की पूर्त्ति हिंदी-साहित्य के मर्म्मज्ञ विद्वानों और गुणग्राहक पाठकों की कृपा पर ही अवलबित है।

इस पुस्तकमाला के प्रकाशन का बहुत कुछ श्रेय मेरे मान्य मित्र श्रीमान् ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत बी० ए० (अब जज चीफ कोर्ट) जागीरदार खाचरियावास (जयपुर) को है, क्योंकि यह पुस्तकमाला आपकी आर्थिक सहायता से और आपके सरक्षण में निकल रही है। आप जयपुर और मारवाड़

रियासतों के ताजीमी सरदार और जयपुर के ताजीमी तथा दूसरे सरदारो मे पहले ग्रैजुएट हैं। आप अच्छे विद्वान्, गुणग्राही, सदाचारी और प्रबंध-कुशल हैं। साहित्य और विशेषत हिंदी-साहित्य से आपको बहुत प्रेम है और आपने हिंदी में समय-दर्शन, आनंद की पगडंडियाँ, जातियों को सन्देश, एशिया में प्रभात, पूर्व और पश्चिम आदि कई ग्रन्थों का अनुवाद और रचना की है। अपनी रियासत में आपने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये स्कूल, चिकित्सालय और अनाथालय स्थापित किया है। अपनी दयालुता के लिये आप बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि आपने कई बार प्लेग और हैजे आदि के समय स्वय घर घर और झोपडी झोंपडी में जाकर रोगियों की सेवा-शुश्रूषा की है। आपसे हिंदी साहित्य के बहुत कुछ उपकार और वृद्धि होने की आशा है। ऐसे सज्जन की कृपा और सहायता से, आशा है, यह पुस्तकमाला मेरे विचारों के अनुसार ही हिंदी ससार मे एक उच्च स्थान प्राप्त करेगी।

काशी
माघ कृष्ण ७,
स० १९७९,

निवेदक
रामचंद्र वर्म्मा।

भूमिका

बहुत दिनों से मेरे अनेक मित्रों का यह आग्रह था और स्वयं मेरी भी यह इच्छा थी कि मैं गद्य में कोई अच्छा ग्रंथ लिखूँ, परन्तु अनेक कार्यों की झंझटों के कारण मुझे इतना अवकाश ही नहीं मिलता था कि मैं नित्य प्रति के कामों से समय बचाकर उसे किसी ग्रन्थ के लिखने में लगाता। मेरा आठ वर्ष का लखनऊ का प्रवास तो इन झंझटों को बढ़ाने ही का कारण हुआ। जिन्हें इस बात का अनुभव होगा, वे जानते होंगे कि एक हेड मास्टर को, और विशेष कर एक ऐसे हेड मास्टर को जिसके स्कूल के साथ छात्रावास भी लगा हो, सबेरे से लेकर सन्ध्या तक का समय किस प्रकार बिताना पड़ता है और अन्त में रात्रि को वह कितना शिथिल और अकर्मण्य सा हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं उस स्कूल के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिये आदर्श हो जाता है और पाठशाला रूपी कुल का कुलपति माना जाता है। ऐसी स्थिति उसकी अपनी उन्नति की बाधक ही हो सकती है, सहायक नहीं। इस अवस्था में रहकर यदि मैं न तो अपनी इच्छा पूरी कर सका और न अपने मित्रों के आग्रह का ही पालन कर सका, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सन् १९२१ में मेरे काशी लौट आने पर पूज्यपाद पण्डित मदन-मोहन जी मालवीय ने मुझे काशी विश्व विद्यालय में हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था ठीक करने और उसे उन्नति तथा उत्तेजना देने

लिये आमन्त्रित किया। अपने अनुकूल कार्य पाकर मुझे आनद
ौर सन्तोष हुआ। सन् १९२२ तक का समय तो सब व्यवस्था
ठीक करने में लग गया और गत जूलाई से एफ० ए०, बी०
० और एम० ए० मे हिन्दी की पढाई आरभ करने का निश्चय
। गया। एम०, ए० के पाठ्यक्रम मे तीन विषय ऐसे रखे गए
तनके लिये उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे—भारतवर्ष का
ाषा-विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, और
ाहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिये अनेक पुस्तकों
 नामों का निर्देश कर दिया गया जिनकी सहायता से इन
वेषयों का पठन-पाठन हो सके, परन्तु आधार स्वरूप कोई मुख्य
थ न बताया जा सका। सब से पहले मैंने साहित्यिक आलो-
ना का विषय चुना और उसके लिये जिन पुस्तको का निर्देश
किया गया था, उन्हें देखना आरभ किया। मुझे शीघ्र ही अनु-
भव हुआ कि इस विषय का भली भाँति अध्ययन करने के लिये
यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्वों का
आरंभिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिये मैंने सामग्री एकत्र
करना आरम्भ किया और सम्पूर्ण ग्रन्थ के परिच्छेदों का क्रम,
विषय का विभाग आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना
आरम्भ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको
पढाता जाता था। इससे लाभ यह था कि मुझे साथ ही साथ
इस बात का अनुभव होता जाता था कि विद्यार्थियों को विषय के
हृदयङ्गम करने में कहाँ कठिनता होती है और कहाँ अधिक विस्तार
या सकोच की अपेक्षा है। इस अनुभव के अनुसार मैं लिखे हुए
अश को सुधारने में भी समर्थ होता था। इस प्रकार यह ग्रन्थ

क्रमश प्रस्तुत हो गया और मुझे अपनी इच्छा पूरी करने तथा अपने मित्रों का आग्रह पालन करने का अवसर मिल गया।

इस पुस्तक के प्रस्तुत करने मे मैंने जिन जिन पुस्तकों से सहायता ली है, उनके नाम अन्त मे दे दिए गए है। उनके देखने से यह विदित हो जायगा कि इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने में मुझे विशेप परिश्रम करना पड़ा है। मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने में यह रहा है कि भारतीय तथा युरोपीय विद्वानों ने आलोचना के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, उसके तत्वों को लेकर इस रूप से सजा दूँ कि जिसमें हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रन्थ के गुण-दोप की परख करने और साथ ही ग्रन्थ-निर्माण या काव्य-रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरो से प्राप्त की है। परन्तु उस सामग्री को सजाने, विपय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिंदी भाषा में व्यजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि मे यह ग्रन्थ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड है। साराश यह है कि ग्रथ की भापा और विषय के प्रतिपादित करने का ढङ्ग मेरा है, परन्तु विचारों के सग्रह मे मैंने विना किसी सकोच के अनेक ग्रन्थों से अमूल्य सहायता ली है, और भारतीय तथा युरोपीय सिद्धान्तों को मिलाने का यथाशक्ति उद्योग किया है।

मौलिकता का नाम लेकर आजकल वडा अन्याय और अत्याचार हो रहा है। मौलिक शब्द की ध्वनि तो चारों ओर सुन पडती है, पर यह समझ मे नहीं आता कि मौलिकता से

ाय क्या है। विचारों की मौलिकता और उन्हें व्यजित करने
ी मौलिकता दोनों एक दूसरी से भिन्न हैं। साहित्य में मौलिकता
े अभिप्राय विचार और शैली दोनों की व्यक्तिगत विशेषता
े है। एक व्यक्ति कुछ विचार करता है और कुछ मत स्थिर
करता है। दूसरा उन विचारों को और भी परिमार्जित और
संस्कृत करके आगे बढता और अपने अन्य विचारों की छाप से
उन्हे नया रूप देने में समर्थ होता है। इसकी सच्ची कसौटी तो
यह है कि उसने ससार के ज्ञान भाडार को कुछ बढाया या नहीं।
यदि वह उसमें वृद्धि करने मे समर्थ होता है, तो अवश्य वह
अपनी सच्ची मौलिकता का परिचय देता है। शैली की मौलिकता
विचारों की मौलिकता से भिन्न और सरल है। दूसरों के विचारों
को लेकर अपने ढङ्ग पर उन्हे सजाना और उन्हें अपनी विशेषता
की छाप से अकित कर अपनी ही व्यक्तिगत भाषा मे व्यक्त करना
शैली की मौलिकता है। अतएव किसी ग्रन्थ की मौलिकता के
सम्बन्ध में दोनों बातों का विचार करना आवश्यक है। जहाँ
दोनों गुण वर्तमान हो, वहाँ तो कुछ आगा पीछा करने की
आवश्यकता ही नहीं है, पर जहाँ विवेचन का ढङ्ग दूसरे का हो,
विचारों की शृखला दूसरे की हो, उनके सजाने का ढङ्ग भी
अपना न हो, और केवल भाषा में रूपातर मात्र हुआ हो, वहाँ
मौलिकता की झलक का भी मिलना असम्भव है।

मेरे इस ग्रन्थ में मौलिकता कितनी है तथा दूसरों की प्रति-
छाया कितनी है और कहाँ तक मै अपने उद्योग में सफल हुआ
हूँ, इसका निश्चय करना विद्वानों का काम है। मुझे तो
इसी बात से सन्तोष हो जायगा, यदि

काम देकर अन्य विद्वानों को इस विषय के उत्तमोत्तम ग्रन्थों के लिखने के लिये उत्साहित कर सके। साहित्यिक आलोचना का यह प्रारम्भिक ग्रन्थ है। यह केवल उस गहन विषय के लिये प्रस्तावना का काम दे सकता है। इसके भिन्न भिन्न अध्यायों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। मुझे आशा है कि हिंदी के प्रेमी विद्वान साहित्य के इस अङ्ग की पुष्टि की ओर अवश्य ध्यान देंगे।

इस ग्रन्थ का अभी थोड़ा ही, लगभग तृतीयांश ही, लिखा गया था कि मेरे स्नेहभाजन बाबू रामचन्द्र वर्म्मा ने अपनी नवोदित साहित्य-रत्न-माला में इसे पहला मनका बनाकर गूथने का सङ्कल्प प्रकट किया। मैंने उसी समय उनकी इच्छा की पूर्ति का निश्चय कर लिया, पर मैं यह नहीं जानता था कि "हाँ" कर देने ही में मुझे कितनी आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उन्होंने गत नवम्बर मास में इस ग्रन्थ के लिखित अंश को लेकर छपवाना आरम्भ कर दिया और शेष अंश के लिये तगादा होना आरम्भ हो गया। इस तगादे ने क्रमशः विकट रूप धारण किया, और उधर समय के अभाव ने रुकावटें डालना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति में कई सप्ताह तक रहने के कारण मैं बाबू रामचन्द्र वर्म्मा को धन्यवाद तो दे ही नहीं सकता, परन्तु साथ ही अब जब कि यह ग्रन्थ समाप्त हो गया है, मुझे इस बात का स्वीकार करने में भी किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं है कि यदि उनका कड़ा तगादा न होता, वे मुझे निरन्तर उत्साहित न करते, सामग्री आदि का संग्रह करने में मेरी सहायता न करते, तो यह भी केवल सम्भव ही नहीं एक प्रकार से निश्चित था कि यह ग्रंथ अभी कई महीनों तक समाप्त न होता। यहाँ पर

प्राय क्या है। विचारों की मौलिकता और उन्हें व्यजित करने की मौलिकता दोनों एक दूसरी से भिन्न हैं। साहित्य में मौलिकता से अभिप्राय विचार और शैली दोनों की व्यक्तिगत विशेपता में है। एक व्यक्ति कुछ विचार करता है और कुछ मत स्थिर करता है। दूसरा उन विचारों को और भी परिमार्जित और सस्कृत करके आगे बढता और अपने अन्य विचारों की छाप से उन्हें नया रूप देने में समर्थ होता है। इसकी सच्ची कसौटी तो यह है कि उसने ससार के ज्ञान भाडार को कुछ बढाया या नहीं। यदि वह उसमें वृद्धि करने मे समर्थ होता है, तो अवश्य वह अपनी सच्ची मौलिकता का परिचय देता है। शैली की मौलिकता विचारों की मौलिकता से भिन्न और सरल है। दूसरों के विचारों को लेकर अपने ढङ्ग पर उन्हें सजाना और उन्हें अपनी विशेपता की छाप से अकित कर अपनी ही व्यक्तिगत भाषा में व्यक्त करना शैली की मौलिकता है। अतएव किसी ग्रन्थ की मौलिकता के सम्बन्ध में दोनों बातों का विचार करना आवश्यक है। जहाँ दोनों गुण वर्त्तमान हों, वहाँ तो कुछ आगा पीछा करने की आवश्यकता ही नहीं है, पर जहाँ विवेचन का ढङ्ग दूसरे का हो, विचारों की शृंखला दूसरे की हो, उनके सजाने का ढङ्ग भी अपना न हो, और केवल भाषा में रूपातर मात्र हुआ हो, वहाँ मौलिकता की झलक का भी मिलना असम्भव है।

मेरे इस ग्रन्थ में मौलिकता कितनी है तथा दूसरों की प्रतिछाया कितनी है और कहाँ तक मैं अपने उद्योग मे सफल हुआ हूँ, इसका निश्चय करना विद्वानों का काम है। मुझे तो केवल इसी बात से सन्तोप हो जायगा, यदि यह ग्रथ पथ-प्रदर्शक का

काम देकर अन्य विद्वानो को इस विषय के उत्तमोत्तम ग्रन्थो के लिखने के लिये उत्साहित कर सके। साहित्यिक आलोचना का यह प्रारम्भिक ग्रन्थ है। यह केवल उस गहन विषय के लिये प्रस्तावना का काम दे सकता है। इसके भिन्न भिन्न अध्यायों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जा सकते है। मुझे आशा है कि हिंदी के प्रेमी विद्वान् साहित्य के इस अङ्ग की पुष्टि की ओर अवश्य ध्यान देंगे।

इस ग्रन्थ का अभी थोडा ही, लगभग तृतीयाश ही, लिखा गया था कि मेरे स्नेहभाजन बाबू रामचन्द्र वर्म्मा ने अपनी नवोत्थित साहित्य-रत्न-माला में इसे पहला मनका बनाकर गूथने का सकल्प प्रकट किया। मैंने उसी समय उनकी इच्छा की पूर्ति का निश्चय कर लिया, पर मैं यह नहीं जानता था कि "हाँ" कर देने ही मे मुझे कितनी आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पडेगा। उन्होंने गत नवम्बर मास मे इस ग्रन्थ के लिखित अश को लेकर छपवाना आरम्भ कर दिया और शेष अश के लिये तगादा होना आरम्भ हो गया। इस तगादे ने क्रमश विकट रूप धारण किया, और उधर समय के अभाव ने रुकावटें डालना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति में कई सप्ताह तक रहने के कारण मै बाबू रामचन्द्र वर्म्मा को धन्यवाद तो दे ही नहीं सकता, परन्तु साथ ही अब जब कि यह ग्रन्थ समाप्त हो गया है, मुझे इस बात का स्वीकार करने में भी किसी प्रकार का सकोच नहीं है कि यदि उनका कडा तगादा न होता, वे मुझे निरन्तर उत्साहित न करते, सामग्री आदि का सग्रह करने मे मेरी सहायता न करते, तो यह भी केवल सम्भव ही नहीं एक प्रकार से निश्चित था कि यह ग्रथ अभी कई महीनों तक समाप्त न होता। यहाँ पर

एक निवेदन और कर देना उचित जान पडता है। जब मैंने इस ग्रथ को लिखना आरम्भ किया था तब मैंने सोचा था कि इसे लगभग २०० पृष्ठों मे समाप्त कर दूँगा, पर ज्यों ज्यो इसकी तैयारी होती गई, त्यो त्यों इसका आकार बढता गया और अन्त में यह मेरे पूर्व निश्चित सकल्प से प्राय दूना हो गया। फिर भी सञ्चित सामग्री मे से बहुत कुछ बच रहा और उसका उपयोग न हो सका। यदि सब सामग्री का पूरा पूरा उपयोग किया जाता, तो इस ग्रन्थ का आकार इससे ड्योढा तो अवश्य हो जाता। पर ऐसा करना मेरे उद्देश के अनुकूल न था। अब यदि विज्ञ पाठक और समालोचक महोदय मुझे इस ग्रन्थ की त्रुटियाँ बताकर इसके सुधारने का परामर्श देंगे, तो आशा है कि दूसरे सस्करण मे, यदि इसका सौभाग्य इसे शीघ्र प्राप्त हो सका तो, उनसे लाभ उठाने मे अपने को धन्य मानूँगा।

इस ग्रथ के पहले चार अध्यायों को कृपापूर्वक पढकर और उन्हे सुधारने का परामर्श देकर पूज्य पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने मेरा बडा उपकार किया है, इसलिये मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। यदि वे इसे छपने के पहले एक बेर आदि से अन्त तक पढ जाते तो मैं अत्यन्त उपकृत होता, पर न तो उनकी अस्वस्थता के कारण मुझे उन्हें इतना कष्ट देने का साहस ही हुआ और न बाबू रामचन्द्र वर्म्मा इसके लिये आवश्यक अवकाश देने में ही सहमत हुए। फिर भी मैं कृतज्ञता पूर्वक इतना अवश्य स्वीकार करता हूँ कि श्रद्धेय द्विवेदी जी के परामर्शों से मैंने पूरा लाभ उठाया है और उनके अनुसार ग्रन्थ के शेष अश को प्रस्तुत करने का उद्योग किया है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को भी मैं धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता। उन्होंने पूर्वांश की तैयारी में मुझे उचित परामर्श देकर तथा एक बेर उसे पढ़कर मुझे उपकृत किया है।

यह इस ग्रन्थ के आरम्भ, प्रणयन तथा समाप्ति की कथा है। इस उद्योग मे मैं कहाँ तक कृतार्थ हुआ हूँ, यह तो हिन्दी के विद्वान् ही बतावेंगे, पर इतना कहे बिना मैं नहीं रह सकता कि मुझे अपनी कृति पर सर्वथा सन्तोष और आनन्द है। परन्तु वास्तविक आनन्द और सन्तोष तभी हो सकता है जब यह दूसरों को भी सन्तुष्ट और आनन्दित करने तथा विद्यार्थियों का उपकार करने में समर्थ हो। जगन्नियन्ता जगदीश्वर मेरी यह आशा और प्रार्थना भी पूरी करे।

काशी
माघ कृ० ७,
सं० १९७९

श्यामसुंदर दास।

दूसरे संस्करण की भूमिका

हिन्दी ससार ने साहित्यालोचन का आदर करके मुझे जो गौरवान्वित किया है, उसके लिये मैं उसका परम कृतज्ञ हूँ। भारतवर्ष के अधिकाश विश्वविद्यालयों ने भी इसे अपनी उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम मे किसी न किसी प्रकार स्थान देकर इसका जो सत्कार किया है, उसके लिये मैं उन्हे धन्यवाद देता हूँ। ईश्वर की कृपा से अब इसका दूसरा सस्करण हिन्दी पाठकों की सेवा मे उपस्थित किया जा रहा है। पहला सस्करण प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद मैंने दूसरे सस्करण के लिये इसमें बहुत कुछ परिवर्त्तन और परिवर्द्धन करने का विचार किया था, परन्तु इधर प्राय डेढ वर्षों से मैं निरतर अनेक प्रकार की मानसिक चिन्ताओं तथा शारीरिक व्याधियों से पीडित रहा हूँ, और मुझे इतना भी अवकाश न मिला कि मैं इसे दोबारा पढ तक सकूँ। इसलिये विवश होकर यह सस्करण ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा रहा है। यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो अगले सस्करण में इसमें आवश्यक सुधार कर दिए जायँगे।

२५ नवम्बर
१९२७ ई०

श्यामसुन्दर दास।

छठा अध्याय

दृश्य-काव्य का विकास

सातवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य का विवेचन

तीसरा अध्याय

साहित्य का विवेचन

चौथा अध्याय

कविता का विवेचन

पाँचवाँ अध्याय

गद्य काव्य का विवेचन

छठा अध्याय

दृश्य-काव्य का विकास

सातवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य का विवेचन

आठवाँ अध्याय
रसों का विवेचन

नवाँ अध्याय
शैली का विवेचन

दसवाँ अध्याय
साहित्य की आलोचना

साहित्यालोचन

पहला अध्याय

कला का विवेचन

प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह सभव है कि बहुत सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों, पर ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उनका सौंदर्य्य है। फल फूलों, पशु-पक्षियो, कीट पतगों, नदी नालो, नक्षत्र-तारो आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौन्दर्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ससार मे अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं। एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन मे उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधा-

सृष्टि की उपयोगिता और सुन्दरता

रणत जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति मे चारों ओर उपयोगिता और सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों मे भी हम उपयोगिता और सुदरता पाते हैं। एक झोंपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोपडी के वनाने मे हम बुद्धि-वल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने मे समर्थ होते हैं, तो वही झोपडी सुन्दरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ ही साथ उसमें सुन्दरता भी आ जाती है।

(जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुदरता आती है, उसकी "कला" सज्ञा है।) कला के दो विभाग हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला मे वढई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अतर्गत वास्तु-कला, मूर्त्ति-कला, चित्र-कला, सगीत कला और काव्य कला, ये पाँच कला भेद हैं। (पहली अर्थात् उपयोगी कलाओ के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, और दूसरी अर्थात ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक आनद की सिद्धि होती है।) दोनों ही उसकी उन्नति और विकास की द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का सबध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नतिसे है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

कला और उसके विभाग

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो, वह सुदर भी हो। परतु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी

वस्तुओं को यथाशक्ति सुंदर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुंदर भी हैं, अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अंतर्गत जा सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर जिनके सुंदर होने मे संदेह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिये मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्यता की सीढी पर ऊपर चढता जाता है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य ज्ञान भी बढता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिये सुन्दरता का आविर्भाव करना पडता है। बिना ऐसा किए उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता, वह सुंदर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न देशों के लोग अपनी अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुंदरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सब का मन एक सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाओं का आधार

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—(एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं।) इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्माण), मूर्त्ति (अर्थात् तक्षण कला) और चित्र कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का

विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा काव्य काव्य कानों के द्वारा*। पहली कला में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। (इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं) (जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, वह उतनी ही उच्च कोटि की समझी जायगी।) इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सब से ऊँचा स्थान देते है, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है, और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सब से नीचा स्थान देते हैं, क्योकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्ति कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है, परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। (वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ

* काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है। कान और नेत्र दोनों से उसकी उपलब्धि होती अवश्य है, पर उसमें दृश्यता प्रधान है। शकुंतला को सामने देखने और उसके मुँह से उसका वक्तव्य सुनने, दोनों के योग से हृदय में जिस आनंद का अनुभव होता है, वह केवल पुस्तक में लिखा हुआ उसका वक्तव्य सुनकर नहीं होता।

में लबाई, चौडाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्त्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनो गुणों का आश्रय लेना पडता है, परतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लबाई और चौडाई का ही आधार लेना पडता है, मुटाई तो चित्र मे नाम मात्र को होती है। (तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित कलाओ में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढते हैं, त्यो त्यो मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है।) चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है, जो असली वस्तु के रूप रग आदि के समान ही देख पडता है।

अब सगीत के विषय मे विचार कीजिए। सगीत में नाद का परिमाण अर्थात् स्वरो का आरोह या अवरोह (उतार-चढाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप मे व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसो और भावो का आविर्भाव होता है। अतिम अर्थात सर्वोच्च स्थान काव्य कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते है। (काव्य मे जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने मे सगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अग नहीं है। (अर्थ की

रमणीयता काव्य कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।)

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित कलाओं के संबंध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ-रमणीय काव्य कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का मन से सन्निकर्ष होता है, वे चक्षुरिंद्रिय और कर्णेन्द्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं, जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचाकर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

ललित कलाओं के आधार तत्त्व

इस लक्षण को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के संबंध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उसका मूर्त आधार, (२) वह साधन

जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है, और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है, वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनमें इमारतें बनाई जाती हैं। ये सब पदार्थ मूर्त हैं, अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है, जैसा किसी और मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती, दूसरे उनकी कृति में रूप, रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उसमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिच्छाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मंदिर, मसजिद या गिरजा है अथवा यह महल या मकबरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिंदू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुसार उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुंबज, मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर

दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परतु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हींको प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनंदित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों चाहे न हों, अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हो या न हो।

मूर्ति-कला

मूर्ति कला में मूर्त आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं, जिन्हें मूर्तिकार काट छाँटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अतर्हित रहते हैं। वह सब कुछ, अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि, प्रदर्शित कर सकता है, केवल गति देना तब तक उसकी सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक वह किसी कल या पुरजे का आवश्यक उपयोग न करे। परंतु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिये वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्त्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर खंड या धातु खंड में जीवधारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता सकता है। यही कारण है कि मूर्ति-कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुंदरता प्रदर्शित करना है।

चित्र कला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि का चित्रपट है, जिस पर चित्रकार अपने बुरुश या कलम की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप,

रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परन्तु मूर्तिकार की अपेक्षा उसके लिये मूर्त आधार का आश्रय कम
चित्रकला रहता है। इसी से उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ता है।
वह अपने ब्रुश या कलम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति मे देखता है, उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है, जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असल सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति मे मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। कोई ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य अंकित करने मे चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अंगों को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, अपितु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपना ब्रुश चलाना और परोक्ष रूप मे अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला मे मूर्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के संबंध मे विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट

दो ललित कलाओं, अर्थात् सगीत और काव्य पर विचार किया जायगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों मे मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

सगीत का आधार नाद है, जिसे या तो मनुष्य अपने कठ से या कई प्रकार के यन्त्रो द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्वातो के अनुसार किया गया है। इन सिद्धातों के स्थिरीकरण में मानव समाज को अनत समय लगा है। सगीत के सप्त स्वर इन सिद्वातों के आधार है। वे ही सगीत-कला के प्राण रूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि सगीत-कला का आधार या सवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भाव प्रकट करते हैं। सगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बहुत विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पडता चला आ रहा है। जगली से जगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। सगीत हमे रुला सकता है, हमे हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमे शोक-सागर में डुबा सकता है, हमे क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है और शात रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय मे शाति की धारा बहा सकता है। परतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही सगीत की भी सीमा है। सगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यो का अनुभव कानों की मध्यस्थता

सगीत कला

मे मन को कराया जा सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झन-कार पत्तियों की खडखडाहट, पत्तियों का कलरव, हमारे कर्ण-कुहरो मे पहुँचाया जा सकता है। परतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचड वेग, बिजली की चमक, मेघो की गड़गडाहट तथा समुद्र की लहरो के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें, तो यह बात सगीत-कला की सीमा के बाहर है। सगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है, और इसमे यह कला इतनी सफल हुई है, जितनी काव्य-कला को छोड कर और कोई कला नहीं हो पाई। सगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चचल कर सकता है और उसमे विशेष भावो का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्त्ति और चित्र-कला से बढकर है। यहाँ एक बात और जान लेना अत्यत आवश्यक है। वह यह कि सगीत कला और काव्य-कला में परस्पर बडा घनिष्ट सबध है। (उनमें अन्योन्याश्रय भाव है, एकाकी होने से दोनो का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।)

काव्य-कला

ललित कलाओं मे मन से ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक सकेता के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय या कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिये किसी दूसरे साधन के अवलबन की आवश्यकता नहीं होती। कानो या आँखों को शब्दो का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यो के जो काल्पनिक रूप इद्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन

पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं, और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। (इस संबंध स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं। अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं (एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से, और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं।) मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। ऐसे समय में जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का, अर्थात् मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है उन सब का, मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुंदर बगीचे की ओर चला गया, जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में ही कर ली। उस दशा में इन बगीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का सम्मिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष संबंध उन सब पदार्थों या जीवों से है, जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आंतरिक ज्ञान कहेंगे, क्योंकि

ललित कलाओं का ज्ञान

उसका संबंध मेरे पूर्व संचित अनुभवों या मेरी कल्पना शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर शक्ति की सीमा से परिमित है, पर दूसरा विस्तार उससे अत्यंत अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलंबित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है, इसमें मेरी ही कल्पना शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने अपने अनुभवों को अंकित करके उन्हें रक्षित या नियंत्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सब से सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव हृदय पर अपना प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं (साहित्य से हमारा अभिप्राय उस ज्ञान-समुदाय से है, जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के भीतर माना है।)

काव्य-कला की विशेषता

हम पहले ही इस बात पर विचार कर चुके हैं कि किस ललित कला में कितना मूर्त आधार है और कौन किस मात्रा में मानसिक आधार पर स्थित है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि काव्य कला को छोड़कर शेष चारों ललित कलाएँ बाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, केवल काव्य-कला पूर्णतया आंतरिक ज्ञान पर अवलंबित रहती है। अतएव काव्य का संबंध या आधार केवल मन है। एक उदाहरण देकर

इस भाव को स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। मेरे सामने एक ऐतिहासिक घटना का चित्र उपस्थित है, जिसे एक प्रसिद्ध चित्रकार ने अंकित किया है। मान लीजिए कि यह चित्र किसी बड़े युद्ध की किसी मुख्य घटना का है। यदि मैं उस घटना के समय स्वयं वहाँ उपस्थित होता, तो जो कुछ मेरी आँखें देख सकतीं, वही सब इस चित्र मे मुझे देखने को मिलता है। मैं इस चित्र में सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालों का जमघट, सैनिकों की तलवारों की चमचमाहट, उनके अफसरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपो की अग्निवर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना—यह सब मैं उस चित्र में देखता हूँ, और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित होकर जो कुछ देख सकता था, वह सब उस चित्रपट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढता हूँ, तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतिहास लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातो का पूरा विवरण मेरे सम्मुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़नेवाले दोनो दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी, उनमें लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजय-कामना से कैसी रण-नीति का अवलंबन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ और अंत में उस युद्ध ने लड़नेवाली दोनों जातियों, तथा अन्य देशों और उनके भावी जीवन पर क्या प्रभाव डाला। परंतु

वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदय-ग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ, जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी तक मुझे पूरा पूरा प्रभावित करता है, जब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा हुआ उसे देखता रहता हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा, परन्तु मैं जब चाहूँ, तब अपनी कल्पना,या स्मरण शक्ति से उसे अपने अतःकरण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है। इसका कारण यही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है और वह बाह्य ज्ञान पर अवलंबित है, परंतु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अतर्ज्ञान पर अवलंबित है। संक्षेप में,हम चित्र को देखकर यह कहते हैं कि "मैंने लड़ाई देखी", पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि "मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया" या "उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।")

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार कह सकते हैं,)जो अनंत काल से भरता आता है और निरंतर भरता जायगा। मानव सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य जो कुछ देखता, अनुभव करता और सोचता विचारता आया है, उन सब का बहुत कुछ अंश इसमें भरा पड़ा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव जीवन के लिये यह भांडार कितना प्रयोजनीय है।

मनुष्य के काव्य रूपी मानसिक जीवन में पुस्तकें बडे महत्व की वस्तु है। विना उनके काव्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। यदि पुस्तकें न होतीं, तो आज हम महर्षि वाल्मीकि, कविकुल-चूडामणि कालिदास, भवभूति, भारवि, भगवान् बुद्धदेव, मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र आदि से कैसे बात चीत करते, उनके कीर्ति-कलाप का ज्ञान कैसे प्राप्त करते, और उनके अनुभव तथा अनुकरण से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत और महत्वपूर्ण बनाने में कैसे समर्थ होते?

काव्य-कला में पुस्तकों का महत्व

संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनंद प्राप्त करें तथा उसका मर्म समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य स्वरूप को पूरा पूरा समझने मे समर्थ करती है।

काव्य का महत्व

(काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अंतर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं।) जैसे एक व्यक्ति का अंतःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को, अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी रक्षित भांडार की सहायता से वह नए अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जाति विशेष का मस्तिष्क या अन्तःकरण है, जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है

और उसी की सहायता से उसको वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेंद्रियों के सब सँदेसे बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही साहित्य के बिना, पूर्व सचित ज्ञान भाडार के बिना, मानव जीवन पाशव जीवन के समान होता। उसमे वह विशेपता ही न रह जाती, जिसके कारण मनुष्य 'मनुष्य' कहलाने का अधिकारी है।

दूसरा अध्याय

काव्य का विवेचन

पहले अध्याय में हमने ललित कलाओं का संक्षेप में वर्णन करके यह समझाने का उद्योग किया है कि कलाओं के संबंध में काव्य का कितना महत्व है और वह किस आधार पर स्थित है। इस अध्याय में हम काव्य-कला पर विशेष रूप से विचार करेंगे। इस कार्य को आरम्भ करने के पहले हमें यह जान लेना आवश्यक है कि काव्य है क्या वस्तु, काव्य कहते किसे हैं।

हिन्दी में "काव्य" और "साहित्य" ये दोनों शब्द कभी तो एक ही अर्थ में और कभी भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

काव्य की परिभाषा

काव्य का साधारण अर्थ वह पुस्तक लिया जाता है जिसमें कविता हो या जो पद्य में हो। साहित्य से अर्थ उन सब पुस्तकों से लिया जाता है जो किसी भाषा में विद्यमान हो। परन्तु पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से "साहित्य" शब्द अब ग्रन्थ-समुदाय के अर्थ में ही अधिकाधिक प्रयुक्त होता जा रहा है। वह अब अँग्रेजी शब्द लिटरेचर का प्रायः समानार्थक हो रहा है। संस्कृत में यह शब्द काव्य-ग्रन्थों के समुदाय का ही बोधक है, और काव्य के अंतर्गत कविता, नाटक, चंपू, गद्यात्मक आख्यायिकाएँ आदि वे सभी पुस्तकें आ जाती हैं जिनमें काव्य या कवित्व के लक्षण पाए जाते हैं। (जिसमें [illegible] अभिधा, [illegible] व्यंजना, रीति,

रस, भाव, अलकार और गुण दोष आदि का विवेचन रहता है, उसे साहित्य शास्त्र कहते हैं) इस पुस्तक का नामकरण इमी बात को ध्यान में रखकर किया गया है।

अच्छा तो अब विचार इस बात का करना है कि साहित्य शास्त्र मे काव्य कहते किसे हैं। कोई आचार्य तो रमणीय अर्थ के प्रतिपादक वाक्य को काव्य कहते हैं और कोई रसात्मक वाक्य को। पर मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि जिस वाक्य, पद्य या उक्ति को सुन कर चित्त चमत्कृत हो उठे—जिसमें कुछ अनोखापन हो—वही काव्य है।

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है, यह परिभाषा रसगगाधर नामक ग्रन्थ की है। कुछ लोग अर्थ की रमणीयता के अतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दालकार) को भी समझ कर लक्षण को स्वीकार करते हैं। पर साहित्यदर्पण ग्रन्थ के कर्त्ता ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है, क्योंकि रसो अर्थात प्रबल मनोवेगों का व्यजक वाक्य ही काव्य की आत्मा है। पिछले लक्षण को कुछ विस्तार देकर हम कह सकते हैं कि काव्य वह वाक्य या वाक्य समुदाय है, जिससे चित्त किसी रस या प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाता है, अथवा काव्य वह कला है जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना या मनोवेगों पर प्रभाव डाला जाता है। हमारे देश के पुराने विद्वानों की यह रीति रही है कि वे अपने विचारों को सक्षिप्त से सक्षिप्त रूप में अर्थात् सूत्र, कारिका आदि के रूप में प्रकट करते आए हैं। यद्यपि इन सूत्रों या कारिकाओं को याद रखने में सुगमता होती है, तथापि उनको हृदयगम करने में विशेष विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता

भी होती है। प्राचीन पश्चिमीय विद्वान् भी ऐसे विषयों का निरूपण सूत्र रूप में करते थे, परन्तु धीरे धीरे वहाँ इस प्रणाली का अनुसरण कम होता गया। आज कल तो वहाँ विषय का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया जाता है। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आती है, जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्व, तथा उसके कारण आनंद का जो उद्रेक होता है, उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो। अच्छा तो इस परिभाषा के अनुसार हम किस प्रकार के ग्रंथों को काव्य के अंतर्गत मान सकते है? रसादि प्रतिपादक शास्त्र के अनुसार साहित्य शब्द का जो चिरप्रतिष्ठित अर्थ है, उसे छोडकर यदि हम आज कल के अनुसार उससे उन सब ग्रन्थों का अर्थ लें, जो भाषा में विद्यमान होते हैं, तो हमें काव्य और साहित्य में अंगागी संबंध मानना पड़ेगा। सब विषयों के ग्रंथों की गिनती साहित्य के अंतर्गत हो सकती है, परंतु समस्त साहित्य काव्य की पदवी पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। अब देखना यह है कि वे कौन से गुण हैं जिनके कारण साहित्य का एक ग्रन्थ "काव्य" कहलाने का अधिकारी होता है और दूसरा उस अधिकार से वंचित रह जाता है। क्या ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रन्थ काव्य मे परिगणित हो सकेंगे? यह आवश्यक नहीं है कि जो [illegible] हो, वह [illegible] हो। साधा-

की श्रेणी में परिगणित नहीं हो सकते, क्योंकि उनका एक मात्र उद्देश्य ज्ञान का सचार करना है। हाँ, एक बात अवश्य है। कुछ कवि या ग्रन्थकार ऐसे भी हो गए है जिन्होने वैद्यक और ज्योतिष के भी ग्रन्थों में काव्य कला का पुट दे दिया है। यह बात उन्होंने जान बूझकर की है। उन्होंने कवित्वपूर्ण सरस रचना इसलिये की है कि लोग उनके ग्रन्थों को चाव से पढ़ें—उनसे पढनेवालो को अपने विषय की ज्ञान प्राप्ति भी हो और साथ ही उनका मनोरजन भी हो। लोलिंवराज कृत वैद्यजीवन और वैद्यावतंस पुस्तके ऐसी ही हैं। ये दोनों ही संस्कृत भाषा मे हैं। ज्योतिषशास्त्र की भी दो एक पुस्तकें इसी ढग की हैं। शास्त्र-विशेष विषयक पुस्तकें उन्हीं लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती हैं जो उन शास्त्रों के तत्वों को जानना चाहते हों। सब के लिये उनमें आकर्षिणी शक्ति नहीं। परंतु काव्य-ग्रन्थ सब पर एक सा प्रभाव डालते हैं। मनुष्य के मनुष्यत्व गुण-सपन्न होने भर से ही काव्य उसके लिये विशेष आनन्द का देनेवाला होता है। काव्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी विशेष प्रकार के ज्ञान की अवगति करावे। उसके लिये सब से आवश्यक और विशेष बात यही है कि वह अपने विषय तथा अपनी वर्णन शैली से पढने-वालों के हृदय में उस आनद का प्रवाह बहा दे जो रसानुभव या रसपरिपाक से उत्पन्न होता है। अथवा दूसरे शब्दों मे इसे इस तरह कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनद या चमत्कार की सृष्टि करे।

काव्य वास्तव मे मानव-जीवन का एक चित्र है। उसका और मानव जीवन का बड़ा घनिष्ट सबंध है। किसी ग्रन्थ को

काव्य का पद इसी लिये प्राप्त होता है कि उसके पढने से जीवन के साथ हमारा एक घनिष्ठ और नवीन सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है, और यही कारण है कि काव्य मनुष्य के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव

काव्य और मानव जीवन

डालता है। सच पूछिए तो काव्य से वे ही बातें जानी जाती हैं जिनका अनुभव मनुष्यों ने स्वय अपने जीवन में किया है, जिन पर उन्होंने स्वय विचार किया है और जिनके सबध में स्वय उनके हृदय पटल पर भावनाएँ अंकित हुई हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि काव्य में प्रधानत भाषा के द्वारा मानव जीवन की अभिव्यक्ति होती है। जीवन की इसी अभिव्यंजना को साहित्य के सिद्धान्तो के अनुसार विविध प्रकार के मनोहारी रूप देने से उसमे मानव जीवन पर मोहिनी डालने और उसे प्रभावित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। पर यह बात न भूलनी चाहिए कि साहित्य के सिद्धातो के अनुसार विविध प्रकार के सुदर और मनोहारी रूप देना ऊपरी शृगार के समान है। काव्य का प्रधान गुण तो उसमे मानव जीवन का अभिव्यजन, उसका प्रदर्शन और उसके स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण है। काव्य की आत्मा यही है, साहित्यिक ठाठ बाट उसका शृगार है और भाषा उसका शरीर है। जैसे सुदर से सुन्दर निष्प्राण शरीर आकर्षण के स्थान पर घृणा का विषय हो जाता है, उसी प्रकार विना जीवनाभिव्य-जन रूपी प्राणों के काव्य की बाहरी सजावट मन को कभी मुग्ध नहीं कर सकती। यदि किसी घटना का वर्णन साहित्य शास्त्र मे उल्लिखित सभी बाहरी गुणों से अलकृत हो, पर उसमें वे बातें न हों जो मनुष्य का मर्म स्पर्श करनेवाली हैं, जो उसके

हृदय में चुभकर तथा उसमें मनोवेगों को उद्वेलित करके विविध रसों का संचार करनेवाली हैं, तो वह काव्य निर्जीव होने के कारण काव्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव यह कहा जा सकता है कि काव्य की उत्पत्ति का कारण मानव जीवन का अनुकरण है। इसलिये हमें मानव जीवन में काव्य के मूल तत्वों को ढूँढना चाहिए, अर्थात् उन मनोवृत्तियों का पता लगाना चाहिए जो काव्य के विविध अंगों और उपांगों के द्वारा व्यक्त की जाती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि काव्य के अंग और उपांग बनावटी नहीं हैं, वे प्राकृतिक आधार रखते हैं।

काव्य और मनोवृत्ति

मनुष्य स्वभाव ही से यह चाहता है कि मैं अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट करूँ। वह उन्हें अपने अंतःकरण में छिपा रखने में सदा समर्थ नहीं होता। साधारण तौर पर बिना उन्हें दूसरों पर प्रकट किए उसे चैन नहीं मिलता। अतएव हम कह सकते हैं कि मनुष्य में एक मनोवृत्ति ऐसी है जिसे हम "आत्माभिव्यंजन की वासना" कह सकते है। इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर जिस काव्य की रचना होती है, उसमें लेखक अपने भावों को दूसरों पर प्रकट किए बिना नहीं रह सकता।

अन्य लोगों के कार्य-कलाप, उनकी भावनाएँ, उनके राग-द्वेष, उनके सांसारिक बंधन आदि की बातें जानने और समझने से भी मनुष्य को एक प्रकार का आनंदानुभव होता है। यह भी एक विशेष मनोवृत्ति का परिणाम है, जिसे हम 'मानव व्यापार में अनुरक्ति" कह सकते हैं। इस मनोवृत्ति से प्रेरित

होकर ऐसे काव्यो की रचना होती है जिनका उद्देश्य मनुष्यों का चरित्र-चित्रण होता है।

जो कुछ हमने देखा है अथवा जिस बात की हमने कल्पना की है, उसे हम दूसरों पर प्रकट करना चाहते हैं। इसी मनोवृत्ति का परिणाम वर्णनात्मक काव्य है।

जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है, मनुष्य सौंदर्योपासक है। वह सब बातो में सुन्दरता की खोज करता और अपनी प्रत्येक वस्तु को सुदर बनाने का उद्योग करता है। सौंदर्य सबधी इस अनुराग से प्रेरित होकर वह अपने भावों, विचारों, कल्पनाओं और उनके वर्णनों आदि को सुदर से सुदर रूप देने का उद्योग करता है। यही मनोवृत्ति साहित्य शास्त्र का मूल आधार है। इसी की प्रेरणा से सौंदर्य-विधायक अलकारों आदि की उद्भावना या सृष्टि करनी पडती है।

मनुष्य जन-समाज मे ही रहना चाहता है। उसकी प्रवृत्ति अपने ही सदृश लोगों से मिलने जुलने की होती है। उसे एकातवास पसद नहीं। वह अपने ही समान विचार, स्वभाव और चरित्रवाले लोगो की खोज में रहता है और उन्हें ढूँढ ढूँढ कर उनसे सपर्क स्थापित करता है। अतएव जहाँ वह अपने भावों, विचारों, कल्पनाओं, मनोवेगों आदि को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है, वहाँ, साथ ही, वह दूसरों के भावों, विचारों, कल्पनाओं और मनोवेगों से भी अवगत होना चाहता है। समाज में परस्पर का यह आदान-प्रदान बराबर चलता रहता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका साराश यही है कि मनुष्य मे चार ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जिनसे प्रेरित होकर वह भिन्न

भिन्न प्रकार के काव्यों की रचना करने में समर्थ होता है। वे चार मनोवृत्तियाँ ये हैं—(१) आत्माभिव्यजन की इच्छा, (२) मानव व्यापारों में अनुराग, (३) नित्य और काल्पनिक ससार में अनुराग और (४) सौंदर्य-प्रियता। चौथी, अर्थात् सौंदर्य-प्रियता नामक मनोवृत्ति तो सब प्रकार के काव्यो मे उपस्थित रहती है, पर शेष तीनों मनोवृत्तियाँ आपस मे इतना मिल जुल जाती हैं कि उनको अलग करके उनके आधार पर काव्य को भिन्न भिन्न अगों और उपागो में विभक्त करना कठिन है। मान लीजिए कि हम आगरे का ताज देखने गए। उसका वर्णन हम अपने मित्र से करने लगे। उस इमारत को देखकर हमारे मन में जो विचार वा भाव उत्पन्न हुए होंगे, उनको हम इस वर्णन में प्रकट करेंगे। उसकी कल्पना करनेवालों, उसके बनवानेवालों, उसके कारीगरों के कौशल आदि अनेक बातों पर हमारा ध्यान जायगा और हम ये सब बातें अपने मित्र से कहेंगे। इस कार्य में सौदर्य प्रियता रूपी मनोवृत्ति को छोड़कर शेष तीनों मनोवृत्तियों का ऐसा समिश्रण हो जायगा कि उनका ठीक ठीक विश्लेषण करना बहुत कठिन होगा। जैसे मानव जीवन में इन मनोवृत्तियों का समिश्रण होता है, वैसे ही काव्य मे भी यह समिश्रण दिखाई पड़ता है।

पर केवल मनोवृत्तियों के आधार पर ही काव्य के अगो और उपागों का निर्णय नहीं हो सकता। हमे यह भी देखना होगा कि काव्य किन किन विषयों का वर्णन करना है।

काव्य के विषय

मनुष्य के जीवन मे वर्णन करने ।

बातें होती हैं। उनकी सख्या इतनी अधिक है कि

करना या उन्हें श्रेणीबद्ध करना एक प्रकार से कठिन ही नहीं किंतु असभव है। परंतु प्रधान प्रधान बातों को ध्यान में रखकर हम काव्य के विषयों का विभाग पाँच भागों मे कर सकते हैं। यथा--(१) किसी व्यक्ति का आत्मानुभव अर्थात् किसी के निज जीवन के बाह्य तथा आतरिक अनुभव मे आनेवाली बातों की समष्टि, (२) मनुष्य मात्र का अनुभव अर्थात् जीवन मरण, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, आशा-निराशा, प्रेम द्वेष आदि ऐसी महत्त्वपूर्ण बाते, जिनका सबध किसी एक ही व्यक्ति से न होकर सारे मनुष्य-समुदाय से होता है, (३) मनुष्यों का पारस्परिक सबंध अर्थात् सामाजिक जीवन और उसके सुख-दुःख आदि, (४) दृश्यमान प्राकृतिक जगत् और उससे हमारा सबध, और (५) मनुष्य द्वारा काव्य और कला का प्रादुर्भाव।

इस प्रकार मनोवृत्तियों और विषयो के आधार पर हम काव्य-साहित्य को कई श्रेणियों मे विभक्त कर सकते हैं। इन दोनों आधारों के अनुसार हम ये विभाग कर सकते हैं--(१) आत्माभिव्यजन-सबधी साहित्य, अर्थात् अपनी बीती या अपनी अनुभूत बातो का वर्णन। आत्मचिंतन या आत्मनिवेदन विषयक हृदयोद्गार, ऐसे शास्त्र, ग्रंथ या प्रबध जो स्वानुभव के आधार पर लिखे जायँ, साहित्यालोचन और कला विवेचक रचनाएँ, सब इसी विभाग के अतर्गत है। (२) वे काव्य जिनमे कवि अपने अनुभव की बाते छोडकर ससार की अन्यान्य बातें, अर्थात् मानव जीवन से सबध रखनेवाली साधारण बाते लिखता है। इस श्रेणी के अतर्गत साहित्य की शैली पर रचे हुए इतिहास, आख्यायिकाएँ, उपन्यास, नाटक आदि हैं। (३)

काव्य के विभाग

वर्णनात्मक काव्य—यद्यपि इस विभाग का कुछ अंश आत्मानुभव और आख्यायिका आदि के अंतर्गत आ जाता है, तथापि यात्रा-वर्णनात्मक निबंध या कविताएँ इसी श्रेणी में गिनी जा सकती हैं।

इस प्रकार मनोवृत्तियों तथा विषयों के आधार पर सब प्रकार के साहित्य को हम तीन मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं। यहाँ पर यह सिद्धांत ध्यान में रख लेना चाहिए कि कवि का काव्य मनुष्य के हृदय को तभी अपनी ओर खींच सकता है जब उसमें अनुरागजनक और कल्पना की वही सामग्री विद्यमान हो जो पाठक, श्रोता या द्रष्टा के हृदय में विशेष रूप से जाग्रत रहती है। अर्थात् कवि अपनी मानसिक प्रवृत्ति और कल्पना के सहारे जब कोई भाव प्रकट करता है और जब वह भाव हममें भी अपना प्रतिबिंब उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तभी यह कहा जा सकता है कि वह काव्य प्रकृत काव्य है। मतलब यह कि कवि और काव्यलोलुप के हृद्गत भावों का तादात्म्य होने से ही कविता से यथेष्ट आनंद की प्राप्ति हो सकती है।

काव्य के भेदों पर विचार करते समय सौंदर्य प्रियता की मनोवृत्ति के विषय में हम कह आए हैं कि यह मनोवृत्ति सब प्रकार के काव्यों में अनुस्यूत रहती है। प्रत्येक काव्य के दो मुख्य उपादान होते हैं—(१) जीवन व्यापार के निरीक्षण द्वारा संचित वह सामग्री जो नाटक, उपन्यास, कविता, निबंध आदि का आधार होती है, और (२) वह कौशल जिसका प्रयोग लेखक या कवि उस सामग्री को काव्य-कला का रूप देने में करता है।

काव्य के उपादान

इनमें से दूसरा उपादान चार मूल तत्त्वों पर अवलंबित

रहता है—(१) बुद्धि तत्त्व अर्थात् वे विचार जिन्हें लेखक व कवि अपने विषय-प्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी कृति में अ व्यक्त करता है। (२) रागात्मक तत्त्व अर्थात् वे भाव जिनको उसका काव्य-विषय स्वय उसके हृदय मे उत्पन्न करता है और जिनका वह पाठकों के हृदय मे सचार करना चाहता है। (३) कल्पना तत्व अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अकित करने की शक्ति जिसे वह अपनी कृति मे प्रदर्शित करके पाठकों के हृदयचक्षु के सामने भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। यही काव्य के आधार और प्राण हैं। परन्तु कुछ शास्त्रकारों का मत है कि लेखक या कवि की विषय-सामग्री चाहे वैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके विचार, भावनाएँ तथा कल्पनाएँ चाहे कितनी ही परिपक्व और अद्भुत क्यो न हों, पर जब तक उसकी कृति मे रूप-सौंदर्य न आवेगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा रूप न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठव, और प्रभावोत्पादकता के सिद्धांतों के अनुकूल हो, तब तक उसकी कृति काव्य न कहला सकेगी। अतएव उसमें एक चौथे तत्त्व की भी आवश्यकता है। वह तत्त्व है (४) अलकार आदि का रचना चमत्कार जिसका निरूपण साहित्य-शास्त्र में किया गया है। कुछ शास्त्रकार इस तत्त्व के अभाव मे भी हृदयाकर्षक काव्य की रचना सभव समझते हैं। वे कहते हैं कि यदि बात सरस और चमत्कारपूर्ण हो, तो अलकार आदि न होने पर भी वह हृदय पर प्रभाव डाल सकती है। स्वाभाविक सुदरता को आभूषणों की आवश्यकता नहीं होती।

यदि काव्य का आधार मानव-जीवन की अभिव्यजना है

काव्य और व्यक्तित्व

और यदि इसी जीवन अभिव्यंजना के कारण उसमें मर्मस्पर्शी शक्ति उत्पन्न होती है, तो काव्य की प्रभावोत्पादक शक्ति का रहस्य जानने के लिये हमें उसके स्वातंत्र्य रूप पर विचार करना होगा। मैथ्यू आर्नल्ड नामक लेखक का कथन है—"काव्य मनुष्य के जीवन की आलोचना है।" इसका यही अर्थ हो सकता है कि कवि की मानसिक कल्पना के अनुसार जीवन की व्याख्या ही काव्य है। यदि यह ठीक है, तो हमें पहले कवि या काव्य व्याख्याता के संबंध में ही विचार करना होगा। फ्रांसीसी लोगों का कहना है कि कला वह जीवन है जो किसी की प्रकृति का आश्रय लेने से देख पड़ती है। अतएव कलावान् जो आदर्श * लोगों के सामने रखता है, उसमें वह अपनी ही व्यक्तिगत सत्ता का प्रतिबिंब झलकाता है।

जितनी रचनाएँ हैं, सब अपने रचयिता के मस्तिष्क और हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। उनका रचयिता उनके प्रत्येक पृष्ठ में अदृश्य रूप से व्याप्त रहता है, उसके प्राण, उसका जीवन, उसका सर्वस्व जिसके कारण उसकी महत्ता है, उनमें सर्वत्र पाया जाता है। अतएव किसी ग्रन्थ को पूरी तरह से समझने के लिये हमें पहले उसके रचयिता से परिचित होना चाहिए। रचना का महत्व रचयिता के महत्व ही के कारण होता है, क्योंकि रचयिता की प्रतिभा की छाप रचना में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। सच्चा प्रतिभाशाली लेखक पुराने से पुराने पिष्टपेषित

* आदर्श का एक अर्थ दर्पण भी है।

विषय को भी इस ढंग से अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर सकता है कि उसमें नवीनता और मौलिकता झलकने लगती है। उसमें विचारों की उत्तमता तथा नवीनता के साथ ही विषय प्रतिपादन की शैली में भी अनोखापन दिखाई देने लगता है। इन्हीं कारणों से ऐसी रचना मन को मुग्ध कर लेती है पर यह तभी हो सकता है जब ग्रन्थकार को उन सब बातों से, जिनके विषय में वह लिख रहा है, स्वयं अनुभव हो, उसने उनको अपने चर्म-चक्षुओं या हृदय की आँखों से देखा हो, और उन्हें भाषा द्वारा प्रकट करने में अपनी प्रतिभा के बल से उन पर नया प्रकाश डाला हो। रचयिता में यह शक्ति भी होनी चाहिए कि वह अपनी भाषा—अपनी शब्दयोजना—से हममें भी उन्हीं विचारों और भावनाओं की तरंगावलि उत्पन्न कर दे, जिनके वशवर्ती होकर उसकी वाणी स्फुटित और लेखनी चंचल हो उठती है। ग्रन्थकार के ऐसे ही ग्रन्थ वास्तव में "काव्य" पद के अधिकारी हो सकते हैं। वही उसके प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या उसके स्वरूप के प्रतिबिंब होते हैं। अतएव किसी ग्रन्थ पर विचार करना मानों उसके रचयिता पर—उसके साहित्यिक जीवन पर—विचार करना है।

परन्तु कोई ग्रन्थकर्त्ता बिना वास्तविक अनुभव प्राप्त किए अथवा बिना मानव जीवन या जड़-चेतन जगत की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बातों को हृदय किए किसी विषय पर लिख कर सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। अनुभव अथवा अभीष्ट विषय का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसे स्वच्छन्दता से, बिना भय या संकोच के, अपने विचार स्पष्टतापूर्वक ठीक ठीक प्रकट करने

चाहिएँ। जहाँ इस संबंध में कृत्रिमता आई और भाव तुच्छ के तुच्छ हो गए, वहाँ ग्रन्थ स्थायी न होकर इस संसार में कुछ ही दिनों का पाहुना रह जाता है। हम इस बात की आशा नहीं कर सकते कि प्रत्येक ग्रन्थकार में भावों का विकास, विचारों का गाम्भीर्य तथा अनुभवों का प्राचुर्य हो, परन्तु हम यह आशा अवश्य कर सकते हैं कि उसमें जो उत्तम से उत्तम गुण है, उसे वह अच्छी तरह हमारे सामने रख दे।

इस प्रकार लिखे हुए किसी ग्रन्थ को जब हम हाथ में लेकर ध्यानपूर्वक उसका अध्ययन प्रारंभ करते हैं, तब मानो उसके कर्ता से एक प्रकार का घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। वह हमारा साथी बन जाता है। उसके विचारों, भावों और उद्भूत वासनाओं आदि से हमारा दृढ़ संसर्ग स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जब बन्धुता का नाता स्थापित हो जाता है, तब हमें उसके संबंध में सब कुछ जानने का अधिकार हो जाता है, और वह भी हमको अपना समझ कर बिना किसी प्रकार के संकोच या छल कपट के जी खोलकर सब बातें हमसे कह डालता है। इस प्रकार उसके विचार, उसकी आशा, उसकी निराशा, उसके गुणों, उसके दोषों और उसके अभावों से हम परिचित हो जाते हैं और उसका वास्तविक स्वरूप उसके ग्रन्थ द्वारा हमारे सामने आ जाता है।

ग्रन्थकर्ता से संबंध स्थापित करने के अनंतर हमें उसके किसी एक ही ग्रन्थ का अध्ययन करके संतोष न करना चाहिए। उसके कुछ ही ग्रन्थों को पढ़ कर हम उसके विषय में पूरी पूरी अभिज्ञता नहीं प्राप्त कर सकते। कदाचित् आरंभ में किसी ग्रन्थकर्ता का एक ही ग्रन्थ

ग्रंथ और ग्रंथकर्ता

पढ़कर हम उससे परिचित हो जायँ, परन्तु इतने ही पर ... करना ठीक नहीं है। हम तो अपने सामने उसकी प्रतिभा का पूरा पूरा चित्र उपस्थित करना चाहते हैं। इसके लिये आवश्यक यह है कि हम उसके सभी ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें, क्योंकि बिना ऐसा किए हम उसके मस्तिष्क के विकास, उसके स्वभाव, उसके विचारों तथा उसके अनुभावों से पूर्णतया परिचित नहीं हो सकते। हाँ, यदि उसने एक ही ग्रन्थ लिखा हो तो लाचारी है—बात ही दूसरी है। यह हो सकता है कि हम तुलसीदास का रामचरितमानस पढ कर उसका रसास्वादन कर सकें और कवि की प्रतिभा से बहुत कुछ परिचित हो सकें, पर यह भी बहुत सम्भव है, नहीं, एक प्रकार से अनिवार्य भी है कि हम उसके सम्बन्ध की बहुत सी बातें जानने से वञ्चित रह जायँ। यदि हम कवि के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे, तो हम उसके भिन्न भिन्न ग्रन्थो में उसकी प्रतिभा के भिन्न भिन्न रूपों के दर्शन कर सकेंगे, और यह भी जान सकेंगे कि उसने भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न भावों से प्रेरित होकर कैसे अपने को अनेक रूपों में प्रकट किया है। इस प्रकार किसी कवि या ग्रन्थकार के समस्त ग्रन्थों के अध्ययन से हम उस कवि या लेखक की भिन्न भिन्न कृतियों को आपस में एक दूसरी से मिला सकेंगे, उनकी समता और विषमता या विभिन्नता को जान सकेंगे, उनके विषय, उनके उद्देश, उनकी रचना की शैलियो और उनकी विषय-विवेचना की रीतियों से परिचित हो सकेंगे। ऐसा होने पर हम इस बात का भी अनुभव प्राप्त कर सकेंगे कि किस प्रकार एक ही व्यक्ति ने अपने जीवन के भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों

से प्रेरित होकर अपने स्वरूप को भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त किया है।

इस प्रकार के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि हम यह कार्य किसी निर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार करें। इसमें संदेह नहीं कि सब से अधिक समुचित और सुगम प्रणाली वह है जिसमें ग्रन्थों के आविर्भाव के समय का ध्यान रखकर उसका अध्ययन किया जाता है, अर्थात् जिस क्रम से ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ हो, उसी क्रम से उनका अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से वे ग्रन्थ उस ग्रन्थकार के क्रमविकसित मानसिक जीवन और कला कौशल का सर्वांगपूर्ण और स्पष्ट चित्र हमारे सामने उपस्थित कर सकते हैं। तभी हमें उनमें ग्रन्थकार के अनुभव के भिन्न भिन्न रूपों, उसके मानसिक और नैतिक विकासों के क्रमों, तथा उसके कौशल की वर्धमान पुष्टि का पूरा पूरा और शुद्ध इतिहास ज्ञात हो सकता है। साराश यह कि इस प्रकार हमें उसकी प्रतिभा के क्रम विकास का पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है।

समयानुक्रम रचना प्रणाली

आजकल कुछ लोगों में ऐसी धुन समाई हुई है कि वे किसी प्रतिभाशाली ग्रन्थकार के लिखे पत्रों, चिटों तथा अपूर्ण लेखों आदि का संग्रह बड़े उत्साह और अध्यवसाय से करते हैं। यह धुन कहीं कहीं तो पागलपन की सीमा तक पहुँच जाती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि किसी ग्रन्थकार की लेखनी से निकली हुई प्रत्येक चिट्ठी या चिट न कभी एक से महत्त्व की हुई है और न कभी हो ही सकती है। अतएव केवल महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का संग्रह करना ही उचित है। हिंदी के

समस्त प्राचीन ग्रंथों का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ। कहना तो यह चाहिए कि अभी बहुत ही थोड़े प्राचीन ग्रंथों का प्रक हो पाया है। इस अवस्था में पहले तो यह आवश्यक है जो ग्रंथ मिल जायँ, वे सब प्रकाशित होते जायँ, और कवि या लेखक के जीवन से संबंध रखनेवाली जितनी मिले, सब संगृहीत कर ली जाय, जिसमें वह ग्रंथ और व सामग्री काल-कवलित होने से बच जाय। इसके अनंतर अनु समय आने पर उनकी जाँच पड़ताल करके महत्वपूर्ण औ उपयोगी वस्तुएँ, अनुपयोगी और अनावश्यक वस्तुओं से अल कर ली जायँ।

तुलनात्मक अध्ययन

ग्रंथों के अध्ययन में आनुपूर्व्य अर्थात् समयानुक्रम प्रणाली का अवलंबन करने में हमें पद पद पर कवि की कृतियों की पारस्परिक समानता या विभिन्नता पर विच करना चाहिए और तदनुसार उसके महत्व और उसकी प्रतिभा को तुलनात्मक कसौटी पर कसना चाहिए। इसके अनंतर हमको उस कवि की तुलना ऐसे अन्य कवियों से करनी चाहिए, जिन्होंने उसी या उन्हीं विषयों पर लेखनी चलाई हो, एक ही प्रकार की समस्याओं विचार किया हो और जो एक ही प्रकार की स्थिति में रहे हों, अथवा कारण विशेष से जिन्हें हमारा मन एक दूसरे से अलग न कर सके। जैसे, यदि हम तुलसीदास जी पर विचार करना चाहें, तो हमारा मन तुरंत सूरदास, केशवदास और नाभादास आदि पर जायगा और हम उन्हें आपस में मिलाकर उनकी समानता या विभिन्नता का विचार कर सकेंगे।

इस प्रकार हम सुगमता से तुलसीदास जी के महत्व का निर्णय कर सकेंगे, उनकी प्रतिभा और उनके काव्य कौशल की माप भी हम अच्छी तरह कर सकेंगे। इसी प्रकार हम देव, भूषण और मतिराम को साथ साथ पढ़कर उनकी कृतियों के तारतम्य का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

हम यह बात पहले ही लिख चुके हैं कि किसी कवि के विषय में विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसकी मनोवृत्तियों को समझे, उसकी प्रवृत्तियों को जाने, उसके उद्देश से अवगत हों और उसकी कवित्व शक्ति का अनुमान करें। सारांश यह कि उसके अंतःकरण का पूरा विश्लेषण करके उसकी आत्मा से परिचित हो जायँ। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये तुलनात्मक प्रणाली ही सब से उत्तम साधन है।

किसी कवि या लेखक के विषय में आलोचनात्मक विचार करने के लिये उसका जीवनचरित जानना परम आवश्यक है।

जीवनचरित

बिना इसके हम यथार्थ आलोचना करने में असमर्थ होंगे। जब कोई ग्रन्थ हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, तब हमारे मन में यह बात जानने का कुतूहल आपसे आप उत्पन्न हो जाता है कि उसका कर्ता कौन है, वह कब हुआ, उसके सहयोगी और सहचर कौन कौन थे, उसने अपने जीवन में किस प्रकार और कैसे कैसे उद्योग किए, कहाँ तक उसे उनमें सफलता या विफलता रही और उसके ग्रंथ का उसके जीवन से कहाँ तक संबंध है। यदि इन सब बातों का ठीक ठीक पता लग जाय, तो हमें उस कवि या लेखक के ग्रंथ अधिक रोचक और मनोरंजक ज्ञात हों और हम उन्हें बड़े चाव

है। वह अपना निज का अस्तित्व रखता है, उसकी स्थिति उस व्यक्ति से भिन्न होती है। जिस प्रकार मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते, उसी प्रकार विचारों को व्यक्त करने का ढग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिच्छद न कह कर यदि हम उन विचारों का दृश्यमान रूप कहे, तो बात कुछ अधिक सगत हो सकती है। भाषा का प्रयोग तो सभी लोग करते हैं, पर प्रतिभावान् की भाषा कुछ निराले ढग की होती है। वह उसके भावो की क्रीत दासी सी होती है और उसे वह अपने विचारों को प्रकट करने के लिये अपनी इच्छा के अनुसार, अपनी विशेषता के अनुरूप एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल लेता है। उसके भावों, विचारो, मनोवृत्तियों तथा कल्पनाओं का जमघट और अनुक्रम, उपमा, अनुप्रास आदि अलकारों का प्रयोग, उसकी सूझ, गभीरता, निपुणता आदि उद्भावनाएँ और मन की तरगें, जो उसके मस्तिष्क से भाषा का रूप धारण करके प्रकट होती हैं, उसकी शैली पर विशेषता की छाप लगा देती हैं।

भिन्न भिन्न लेखकों और कवियों की रचनाओं में भिन्न भिन्न विशेषताएँ होती हैं। अतएव किसी कवि या ग्रथकार की आलोचना करते समय उसकी लेखन शैली अर्थात् भाव-व्यजना के ढग पर भी विचार करना पडता है। एक ही ग्रन्थकार की रचनाओं में भी, समय पाकर, शैली बदल जाती है। प्राय देखा जाता है कि किसी कवि की प्रारम्भ की कृतियों में शब्दों का बाहुल्य और भावों की न्यूनता होती है, मध्यावस्था में दोनो—शब्द-प्रयोग और भाव—प्राय बराबर हो जाते हैं, और उत्तर अवस्था में

शब्दों की कमी और भावो की अधिकता हो जाती है। प्रारम्भ मे प्राय यह देखा जाता है कि कवि अपनी भाषा को बडी सावधानी से सजाता है—थोडे से भावों को बडे विस्तार के साथ लिखता है। अर्थात् वह शब्दाडम्बर का अधिक सहारा लेता है। परन्तु अन्तिम अवस्था मे उसके वाक्य गठे हुए होते है। उनमें थोडी भी न्यूनाधिकता करने से भाव बदल जाता है। ऐसा जान पडता है कि भावों और शब्दों की दौड मे भाव आगे निकले जाते हैं और शब्द पीछे रहे जाते हैं। इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि उत्तर कालीन भाषा मे शिथिलता आ जाती है, उसमे ओज नहीं रहता, या वह भाव-व्यञ्जना मे असमर्थ सी हो जाती है। नहीं, भाषा तो प्रतिभावान् लेखक की क्रीत दासी है, वह उसकी आज्ञा की वशवर्तिनी रहने में ही अपना सौभाग्य समझती है। अतएव किसी कवि की शैली की विवेचना से हम उसके मस्तिष्क के विकास को समझने, उसके भावों को जानने तथा कला कौशल का यथेष्ट अनुभव करने मे समर्थ होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका आशय यही है कि किसी कवि या ग्रन्थकार की रचना की विवेचनापूर्ण समीक्षा करने में में नीचे लिखी बातों को ध्यान मे रखना चाहिए—

(१) समस्त ग्रन्थो का अध्ययन किया जाय।

(२) यह अध्ययन उनके निर्माण काल के क्रम से हो।

(३) इस अध्ययन मे तुलनात्मक प्रणाली का अवलम्बन किया जाय।

(४) कवि के विश्वसनीय जीवनचरित का विवेकपूर्वक प्रयोग किया जाय।

तीसरा अध्याय

साहित्य का विवेचन

पिछले अध्याय मे हम यह बात बतला चुके हैं कि किस प्रकार ग्रन्थो के अध्ययन मे हम ग्रन्थकार की समीक्षा करके उसके मानसिक विकास का वृत्तात जान सकते हैं।

साहित्य और जातीयता

इस अध्याय मे हम इस बात का निरूपण करेंगे कि ग्रन्थकार के ग्रन्थो के अध्ययन मे हम उसके देश और उसके देशवासियो का समकालीन इतिहास भी बहुत कुछ जान सकते हैं। किसी साहित्य का अध्ययन करते करते हमे इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है कि यदि हमे उस साहित्य का क्रमप्राप्त इतिहास अवगत हो जाता तो बडी बात होती—हम उसका और भी अधिक गहरा अध्ययन कर सकते। बात यह है कि साहित्य और उसके इतिहास मे अन्योन्याश्रय सबध है। एक के ज्ञान के लिये दूसरे का ज्ञान भी आवश्यक है। किसी प्रतिभाशाली ग्रन्थकार की स्थिति अपने ही काल और अपने ही व्यक्तित्व से सीमाबद्ध नहीं होती। वह उनसे भी आगे बढ जाती है, यहाँ तक कि वह पीछे की भी खबर लेती है। उसका सबध भूत और भविष्य से भी होता है। समय की शृखला में कवि या ग्रन्थकार बीच की कडी से समान होता है। जिस प्रकार शृखला में आगे और पीछे की कडियाँ बीचवाली कडियों से सलग्न रहकर उस शृखला का अस्तित्व बनाए

रहती हैं, उसी प्रकार प्रतिभाशाली ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों का फूल-रूप है। जैसे फूल के अनन्तर फल का आगम होता है, वैसे ही ग्रन्थकार भी एक का फल और दूसरे का फूल होता है। भूत भविष्य के इस सम्बन्ध ज्ञान की कृपा से हम वर्तमान की कृतियों के द्वारा उनके समकालीन तथा पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों भी पहुँच जाते हैं। अन्त में इस प्रकार चलते चलते हम उनके जा साहित्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ तक पहुँचने पर हम इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि वह जातीय साहित्य कुछ सत्ता रखता है और वह सत्ता सजीव सी है। क्योंकि जीता जागता मनुष्य प्राणी प्राकृतिक नियमों के वशीभूत विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को पार करता हुआ के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही जातीय साहित्य उन्नति करता जाता है। अतएव किसी साहित्य के अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से हमें दो बातों पर विचार करना पड़ता एक तो उसके परम्परागत जीवन पर अर्थात् उसके जातीय पर, और दूसरे उस उस जीवन के परिवर्तनशील रूप पर, इस बात पर कि वह जातीय जीवन किस प्रकार भिन्न भि समयों के भावों को अपने में अन्तर्हित करके उन्हें व्यञ्जित है। अतएव किसी जाति के काव्य समूह या साहित्य के से हम यह जान सकते हैं कि उस जाति या देश मानसिक जीवन कैसा था और वह क्रमशः किस विकसित हुआ।

पहले हमें यह जानना चाहिए कि जब हम किसी देश के

ातीय साहित्य के इतिहास का उल्लेख करते हैं, तब उससे हमारा तात्पर्य क्या होता है। अर्थात् जब हम भारतीय आर्य जाति का साहित्य, यूनानी साहित्य, फ्रांसीसी साहित्य, या अँगरेजी साहित्य आदि

जातीय साहित्य

ाक्यांशों का प्रयोग करते हैं, तब हम कौन सी बात व्यंजित रना चाहते हैं। कुछ लोग कहेंगे कि इन वाक्यांशों का तात्पर्य हीं है कि उन उन भाषाओं में कौन कौन से लेखक हुए, वे ब कब हुए, उन्होंने कौन कौन से ग्रन्थ लिखे, उन ग्रन्थों के गुण-प क्या हैं और उनके साहित्यिक भावों में क्या क्या परिवर्तन ए। यह ठीक है, पर जातीय साहित्य में इन बातों के अतिरिक्त ौर भी कुछ होता है। जातीय साहित्य केवल उन पुस्तकों का मूह नहीं कहलाता जो किसी भाषा या किसी देश में विद्यमान । जातीय साहित्य जाति विशेष के मस्तिष्क की उपज और सकी प्रकृति के उन्नतिशील तथा क्रमागत अभिव्यञ्जन का फल । सम्भव है कि कोई लेखक जातीय आदर्श से दूर जा पड़ा हो ौर उसकी यह विभिन्नता उसकी प्रकृति की विशेषता से उत्पन्न ई हो, परन्तु फिर भी उसकी प्रतिभा में स्वाभाविक जातीय भाव ा कुछ न कुछ अंश वर्तमान रहेगा ही। उसे वह सर्वथा छोड़ ीं सकता। यदि स्वाभाविक जातीय भाव किसी काल में र्तमान कुछ ही चुने हुए स्वनामधन्य लेखकों में पाया जायगा, ो हम कह सकेंगे कि उस काल के जातीय साहित्य की वही िशेषता थी। जब हम कहते हैं कि अमुक काल के भारतीय ार्यों, यूनानियों या फ्रांसीसियों का जातीय भाव ऐसा था, ो हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि उस काल के सभी भार-

नीयों, यूनानियों या फ्रांसीसियों के विचार, भाव या मनोवे एक से थे। इससे हमारा यही तात्पर्य होता है कि व्यक्ति विभिन्नता को छोड़कर जो साधारण भाव किसी काल में अधिक ता से वर्तमान होते हैं, वे ही भाव जातीय प्रकृति के व्यंजक बोधक होते हैं और उन्हीं को जातीय भाव कहते हैं, चाहे कोई दोष समझे चाहे गुण। उन्हीं जातीय भावों का विवे पूर्वक विचार करके हम इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि ... जाति के जातीय भाव ऐसे थे। उन्हीं के आधार पर हम जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा इस बात का अनुमा करते हैं कि उस जाति ने संसार की मानसिक तथा आध्या त्मिक उन्नति में कहाँ तक योग दिया। मध्य काल अर्थात् भा ईसवी की दसवीं से चौदहवीं शताब्दियों के बीच युरोप में किसी नवयुवक की शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती थी जब तक वह युरोप के सभी मुख्य मुख्य देशों में पर्य्यटन न कर आता था। इसका उद्देश यही था कि वह अन्य देशों के निवासियों, उनकी भाषाओं, उनके रीति रवाज तथा उनकी सार्वजनिक संस्थाओं आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले, जिसमें पारस्परिक तुलना से वह अपने जातीय गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने शील स्वभाव तथा व्यवहार को परिमार्जित और सुंदर बना सके। साहित्य का अध्ययन भी एक प्रकार का पर्य्यटन या देश दर्शन ही है। उसके द्वारा हम अन्य देशों और जातियों ... सिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिचय प्राप्त करते ... निकटस्थ संबंध स्थापित करके उपार्जित ...

स्वादन मे समर्थ होते हैं। देश दर्शन के लिये की गई साधारण यात्रा और साहित्यिक यात्रा में बडा भेद है। साधारण यात्रा तो हम किसी निर्दिष्ट काल मे ही कर सकते हैं, पर साहित्यिक यात्रा के लिये काल का कोई बधन नहीं। यह यात्रा हम चाहे जिस काल मे कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि हम किसी भी जाति की, किसी भी काल की विद्वनमडली मे, जब चाहे, परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये किसी प्रकार का अवरोध या बन्धन नहीं है।

इस प्रकार दूसरी जातियों के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करके हम उस जाति की प्रतिभा, उसकी प्रवृत्ति, उसकी उन्नति आदि के क्रमिक विकास का इतिहास जान सकते हैं। इस दशा मे साहित्य इतिहास का सहायक और व्याख्याता हो जाता है। इतिहास हमें यह बताता है कि किसी जाति ने किस प्रकार अपनी सासारिक सभ्यता को बढाया और वह क्या क्या करने मे समर्थ हुई। साहित्य बताता है कि जाति विशेष की आतरिक वासनाएँ, भावनाएँ, मनोवृत्तियाँ तथा कल्पनाएँ क्या थीं, उनमें क्रमश कैसे परिवर्तन हुआ, सासारिक जीवन के उतार-चढाव का उन पर कैसा प्रभाव पडा और उस प्रभाव ने उस जाति के मनोविकारो और मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन को नए साँचे मे कैसे ढाला। साहित्य ही से हमे जातियों के आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक विकास किवा उन्नति का ठीक ठीक पता मिलता है।

किसी काल के बहुत से कवियों या लेखकों की कृतियों के साधारण अध्ययन मे भी हमें इस बात का पता लग जाता है कि

कुछ ऐसी साधारण बातें हैं जो उन सब की कृतियों में एक सा पाई जाती हैं, चाहे और अनेक बातों में विभिन्नता ही क्यों न हो। उनके अध्ययन से ऐसा प्रकट होता है कि विभिन्न होने पर भी उनमें कुछ समता है। हम पहले ही यह बात लिख चुके हैं कि जब हम तुलसीदास जी के ग्रन्थों पर विचार करते हैं, तब हमारा मन हठात् सूरदास, केशवदास, ब्रजवासीदास आदि के ग्रन्थों पर चला जाता है। तब हम इन सब की तुलनात्मक जाँच करने और इनकी समता या विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करने में लग जाते हैं। यह सम्भव है, और कभी कभी देखने में भी आता है, कि एक ही वंश या माता पिता की सतति में जहाँ प्राय कुछ बातें समान होती है, वहाँ कोई ऐसी भी सन्तति जन्म लेती है जिसमें एक भी गुण सब के जैसा नहीं होता। उसमे सभी बातों में औरों से भिन्नता पाई जाती है। यही बात किसी निर्दिष्ट काल के किसी विशेष ग्रन्थकार मे भी हो सकती है। पर साधारणत उस काल के अधिकांश ग्रन्थकारों मे कोई न कोई सामान्य गुण प्राय होता ही है। इसी सामान्य गुण को हम उस काल की प्रकृति या भाव कह सकते हैं।

साहित्य और काल की प्रकृति

हिंदी साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न भिन्न कालों में ठीक ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढकर और छोटे छोटे टीलों या पहाडियो के बीच में पड जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच बीच

मे दूसरी छोटी छोटी नदियाँ कहीं तो आपस मे दोनो का सम्बन्ध करा देती हैं, और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मन्द गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग मे किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण मे उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है, और जैसे कभी कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भूभागों से होकर बहती है, वैसे ही हिंदी साहित्य का इतिहास भी आरंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। आरंभ में कवि लोग स्वतंत्र राजाओं के आश्रित होकर उनके कीर्ति-गान में लगे और देश का इतिहास कविता के रूप मे लिखते रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिचकर भगवद् भक्ति रूपी एक अन्य धारा मे जाने लगा। यह भगवद्-भक्ति रूपी धारा रामानन्द और वल्लभाचार्य के अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर राम-भक्ति और कृष्ण भक्ति के रूप मे परिवर्तित हो गई। फिर आगे चलकर केशवदास के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनों धाराओं के रूप बदल दिए। जहाँ पहले भाव व्यंजना तथा विचारों के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य शास्त्र के अंग प्रत्यंग पर जोर दिया जाने लगा। रामभक्ति की साहित्य धारा तो, तुलसीदास के समय में, खूब ही उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्ति-

रस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सा
मानव जीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया। साहित्य
शास्त्र की धारा उसमे अपना पानी न मिला सकी। पर कृष्ण
भक्ति की धारा में उसका पानी बडे वेग से मिलता गया।
एव उस धारा का रूप ही कुछ का कुछ—यहाँ तक कि
अश मे अपेय तक—हो गया। कवियों को कृष्णलीला के आक्षेप
योग्य अश के अतिरिक्त और कोई ऐसा विषय ही न मिलने लगा
जिस पर वे अपनी लेखनी चलाते। बात यहाँ तक बिगडी कि
कवियो को नायिका-भेद और नख-शिख आदि के वर्णन करने
में ही अपनी सारी शक्ति लगाने मे प्रयत्नशील होना पडा।
बीच में मुसलमानो की राज्यधारा के साथ विलासिता
शृंगार-रसप्रियता का एक और नया प्रवाह उसमें आ मिला।
इस प्रकार तीन छोटी छोटी धाराओं के मेल से बनी हुई
बहुत बडी धारा ने कविता-सरिता के रूप में आकाश-पाताल
अतर कर दिया। भावो की व्यजना, विचारों का प्रत्यक्षीकरण,
अत करण का प्रतिबिब कविता में न झलकने लगा।
लाए गए अलकारों ने कविता नदी को कठिनता से
योग्य बना दिया—उन्होंने उसे विशेष जटिल कर दिया।
पहले भाव-व्यजना आदि के सहायक थे, वे अब स्वय स्वामी
बन बैठे। फल यह हुआ कि कविता की स्वाभाविकता जाती
और वह अपने आदर्श आसन से गिर गई। कवि नायिकाओं
रूप-रग वर्णन करने में ही अपना कौशल दिखाने लगे। वे
रिक भावों की विवृत्ति न कर सके, वे चरित्रचित्रण और भाव
प्रदर्शन करना भूल गए। स्थूल दृष्टि के सामने जो कुछ आ

उसे शब्दाडम्बर से लपेटने में ही वे अपनी कवित्व शक्ति की चरम सीमा मानने लगे। इस प्रकार भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न प्रभावों और कारणों के पंजे में पड़कर साहित्य का रूप बदलता रहा, पर कविता-सरिता की धाराएँ बराबर बहती ही रहीं।

जिस काल में जो गुण या विशेषत्व प्रबल रहता है, वही उस काल की प्रकृति या भाव कहलाता है। इस भाव या प्रकृति को हम किसी निर्दिष्ट काल के कवियों की कृति के अध्ययन से निर्धारित कर सकते हैं। पर हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी साहित्य का इतिहास निर्दिष्ट कालों में कठिनता से बाँटा जा सकता है। साहित्य का जो प्रवाह आरंभ से बहा, वह बहता ही गया। भिन्न भिन्न कालों में उसके रूप में परिवर्तन तो हुए, पर प्रवाह का मूल एक ही सा बना रहा।

किसी निर्दिष्ट काल की प्रकृति जानने में हमें कवि विशेष ही की कृति पर अवलम्बित न होना चाहिए, चाहे वह कवि कितना ही बड़ा, कितना ही प्रतिभाशाली और काव्य-कला के ज्ञान से कितना ही सपन्न क्यों न हो। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कवि भी तत्कालीन सामाजिक जीवन और सासारिक परिस्थिति के प्रभाव से बचा नहीं रह सकता। उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं हो सकती। वह भी जाति के क्रमिक विकास की शृंखला के बंधन के बाहर नहीं जा सकता। इस बात को ध्यान में रखने से ही हम उसके ग्रन्थों के अध्ययन से जातीय विकास का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। भूषण और हरिश्चन्द्र के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करके हम जान सकते

है कि उनके समयों की स्थिति और तत्कालीन जातीय सत्ता कितना अन्तर था।

अतएव कवि अपने समय की स्थिति के सूचक होते हैं। उनकी कृतियाँ उनके समय का प्रतिबिंब दिखाने में आदर्श का काम देती है। उनके आश्रय से हम अपने अनुसंधान में अग्रसर हो सकते हैं और उन्हें आधार मानकर साहित्य के इतिहास को भिन्न भिन्न कालों में विभक्त कर सकते है। यह काल-विभाग अपने अपने समय के कवियों के विशेष विशेष गुणों के कारण स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। कविता के विषय, विषय प्रतिपादन की प्रणाली, भाव-व्यंजना के ढंग आदि की ही गणना गुण विशेषों में है। वे ही एक काल के कवियों को दूसरे काल के कवियों से पृथक् कर देते है। जैसे प्रत्येक ग्रन्थ में उसके कर्त्ता का आंतरिक रूप प्रच्छन्न रहता है और प्रत्येक जातीय साहित्य में उस जाति की विशेषता छिपी रहती है, वैसे ही किसी काल के साहित्य में परोक्ष रूप से उस काल की विशेषता भी गर्भित रहती है। किसी काल के सामाजिक जीवन की विशेषता अनेक रूपों में व्यंजित होती है, जैसे राजनीतिक संघटन, धार्मिक विचार, आध्यात्मिक कल्पनाएँ आदि। इन्हीं रूपों में साहित्य भी एक रूप है, जिस पर अपने काल की जातीय स्थिति की छाप रहती है। उसका विचारपूर्वक अध्ययन करने से वह छाप स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि किसी कवि या ग्रन्थकार पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ता है। वे ही उसके कृतिजात रूप को स्थिर करने में सहायक होती

प्रभाव से विचारो, भावो और आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है, साथ ही उन्हें प्रदर्शित या व्यजित करने के ढग में भी परिवर्तन हो जाता है। कभी कभी तो ऐसा जान पडने लगता है कि हमारे पूर्ववर्ती ग्रथकारों में और हममें बडा अन्तर हो गया है। साहित्य का अध्ययन यहाँ काम देता है। उसी से इस परिवर्तन का अन्तर और उस अतर का कारण समझ में आता है। वही हमें यह जानने में समर्थ करता है कि उन परिवर्तनो के आधारभूत कौन कौन से कारण या अवस्थाएँ है और विभिन्न होने पर भी कैसे वे एक ही विचार शृखला की कडियाँ है, जिन पर निरतर काम में न आने से जग सा लग गया है और जो जीर्ण सी प्रतीत होती है।

साहित्य पर विदेशी प्रभाव

जब दो जातियो में परस्पर सबध हो जाता है—चाहे वह सबध मित्रता का हो, चाहे अधीनता का हो, चाहे व्यवहार या व्यवसाय का हो—तब उनमें परस्पर भावों विचारो आदि का विनिमय होने लगता है। जो जाति अधिक शक्तिशालिनी होती है, उसका प्रभाव शीघ्रता से पडने लगता है, और जो कम शक्तिशालिनी या नि सत्व होती है, अथवा जो चिर काल से पराधीन होती है, वह शीघ्रता से प्रभावान्वित होने लगती है। पराधीन जातियों में मानसिक दासत्व क्रमश बढकर इतना व्यापक हो जाता है कि शासित लोग शासको की नकल करने में ही अपने जीवन की ... समझते हैं। अविकसित जातियाँ दूसरी जातियों की ...ता का मर्म समझने में समर्थ नहीं होतीं। उन पर तो शारी...क का ही अधिक प्रभाव पडता है। सम-शक्तिशालिनी

मानसिक शक्ति से उसे नया रंग-रूप देने—नए साँचे में ढालने—में सफल हो। यही उसकी विशेषता, यही उसका गौरव और यही उसकी प्रतिभा का साफल्य है।

ऊपर कहे हुए सिद्धांत के अनुसार ग्रन्थकार पर काल, स्थिति और जाति की प्रकृति का प्रभाव तो स्वीकृत किया जाता है, पर उस प्रकृति पर ग्रन्थकार के प्रभाव की उपेक्षा की जाती है। इससे इस सिद्धांत में दोष आ जाता है। सारांश यह कि प्रतिभाशाली ग्रंथकार या कवि अपने काल, जाति और स्थिति की प्रकृति द्वारा निर्मित ही नहीं होता, वह उनका निर्माण भी करता है। वह केवल उनसे प्रभावान्वित होनेवाला ही नहीं, उन पर प्रभाव डालनेवाला भी है। ग्रन्थकार या कवि की विशेष सत्ता की उपेक्षा न की जानी चाहिए, किन्तु उसे ध्यान में रखकर साहित्य के विकास का रूप या इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए।

जातीय साहित्य का अध्ययन

जिस प्रकार किसी ग्रन्थकर्ता की कृतियों के अध्ययन में तुलनात्मक और आनुपूर्व्य प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी जाति के साहित्य के अध्ययन में भी हमें उन्हीं प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता है। बिना इन प्रणालियों का अवलम्बन किए काम ही नहीं चल सकता, तत्त्वांश जाना ही नहीं जा सकता। जब हम किसी निर्दिष्ट काल के साहित्य का मिलान किसी दूसरे निर्दिष्ट काल के साहित्य से करते हैं, तब हम उन दोनों में प्राय कुछ बातें तो समान और कुछ विभिन्न पाते हैं। आपस में उनका मिलान करना और उस . . का ठीक ठीक फल समझना हमारा कर्तव्य है। समय के

के संसर्ग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे विचारों, मनोभावों, आदर्शों और संस्थाओं पर भी उन्होंने अपने प्रभाव की स्थायी छाप लगा दी। उन्होंने तो यहाँ तक हमारी सभ्यता पर छापा मारा कि जिधर देखिए, उधर ही उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बात यह हुई कि हमारी जाति कुछ समय पहले से ही सुषुप्तावस्था में पड़ी थी। इस कारण यह प्रभाव अधिक शीघ्रता से दूर दूर तक व्यापक हो गया। जब जाग्रति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, तब एक ओर तो इस प्रभाव का अवरोध होने लगा और दूसरी ओर उसके पृष्ठपोषक उसे स्थायी बना रखने के लिये उद्योगशील होने लगे। साहित्य का अध्ययन करनेवाले, उसका मर्म्म समझनेवाले तथा उसके विकास का सच्चा स्वरूप पहचाननेवाले के लिये यह परम आवश्यक है कि वह विदेशी प्रभाव की विवेचना करे और देखे कि यह प्रभाव साहित्य पर किस प्रकार पड़ा और किस प्रकार उसने यहाँ के लोगों के आदर्शों, विचारों, मनोभावों और लेखनशैली में परिवर्तन कर दिया। उसे यह भी देखना और बताना चाहिए कि इस परिवर्तन के कारण हमारे काव्य या साहित्य में कहाँ तक चारुता या विरूपता आई। अतएव साहित्य के अध्ययन में यह भी आवश्यक है कि हम उन जातियों के साहित्य के इतिहास से अभिज्ञता प्राप्त करें जिनसे हमारा संबंध हुआ है। बिना ऐसा किए हमारा विवेचन अपूर्ण और अल्पोपयोगी होगा।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, लेखनशैली विचारों के प्रकाशन का बाहरी रूप है, अथवा यह कहना चाहिए कि वह भाषा के प्रयोग का व्यक्तिगत विशेष ढंग है। जैसे समय,

कहना चाहिए कि जो बात जिस जाति में स्पृहणीय या उत्कृष्ट होती है, उसे दूसरी जाति ग्रहण कर लेती है। इन बातों को ध्यान में रखकर हम किसी साहित्य के अध्ययन से यह जान सकते हैं कि कहाँ तक किस जाति के साहित्य पर विदेशी प्रभाव पडा है। भारतवर्ष के पश्चिमी अंचल में पहले पहल यूनानियों का आगमन हुआ और बहुत समय तक आवागमन होता रहा। अतएव उनकी सभ्यता और कारीगरी का प्रभाव यहाँ की ललित कलाओं पर बहुत अधिक पड़ा। जहाँ यूनानियों का प्रभाव अधिक व्यापक और स्थायी था, वहाँ की ललित कला के रूप में विशेष परिवर्तन हुआ। उस समय के उस परिवर्तन के अवशिष्ट चिह्न अब तक, विशेष करके मूर्त्तियों में, दिखाई पडते हैं। गांधार प्रदेश में मिली हुई पुरानी मूर्त्तियाँ यूनानी प्रभाव से अधिक प्रभावान्वित पाई जाती है। उनकी काट छाँट तथा आकृति में जो सुंदरता दृष्टि-गोचर होती है, वह दक्षिण या मध्य भारत में निर्म्मित मूर्तियों में नहीं दिखाई पड़ती। मुसलमानों के राजत्व काल में भारतवासियों पर उनका भी प्रभाव पडा। यह प्रभाव सैंकडों वर्षों तक बराबर पडता ही गया। फल यह हुआ कि वह अधिक स्थायी और व्यापक हुआ। अन्य वस्तुओं या विषयों पर पडे हुए इस प्रभाव की विशेष विवेचना हम नहीं करते, हम केवल अपनी काव्य-कला ही का निदर्शन करते हैं। उसकी स्थूल विवेचना से भी हमें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उसमें शृंगार रस का जो इतना आधिक्य है, वह बहुत कुछ उसी प्रभाव का फल है। अँगरेजो के आगमन, संपर्क और सत्ता का प्रभाव उससे भी बढकर पडा। हमारे गद्य साहित्य का विकास तो उन्हीं

मिला है। पर यहाँ हमारा उद्देश उन कारणों पर विचार करना नहीं है जिनसे इन दोनों के गद्य मे इतना अतर हो गया है। हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दोनो की गद्य शैली ने किस तरह भिन्न भिन्न रूप धारण किए। लल्लूलाल की कृति बहुत पहले की है, उस पर कविता का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उस समय तो वह अपना रूप स्थिर करने म लगी हुई थी, पर हरिश्चन्द्र के समय मे उस रूप मे कुछ कुछ स्थिरता आ गई थी। वह परिमार्जित हो चली थी, उसमे प्रौढता और शक्ति-सपन्नता के चिह्न दिखाई देने लगे थे, वह भाव व्यजना मे अधिक समर्थ हो चली थी। उसी रूप से अनुप्राणित और प्रभावान्वित होकर हरिश्चद्र ने गद्य-लेखन की उस शैली की अवधारणा की थी जिसे हम उनकी पुस्तकों मे पाते हैं। यह विवेचन यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि शैली का आनुपूर्व्य और तुलनात्मक अध्ययन भी साहित्य की स्थिति-विवेचना मे सहायक हो सकता है।

अब तक हमने काव्य और साहित्य के विषय मे इस दृष्टि से विचार किया है कि वह किस प्रकार विचारों भावों, मनोवेगो या कल्पनाओं का व्यजक है और किस प्रकार लेखक की अतरात्मा का बाहरी रूप है। हम यह भी देख चुके हैं कि साहित्य और काव्य के उत्पादन मे कौन कौन सी अवस्थाएँ या कारण सहायक होते हैं और हमें किस प्रकार उनका अध्ययन [illegible] आलोचना करनी चाहिए। लेखन शैली के [illegible] गया है, वह भी इसी लिये कि किस [illegible] या

साहित्य सबधी शास्त्र

पाकर विचारों में परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही उनको ... करने की शैली या ढग में भी ... होता है। साहित्य की अतरात्मा पर समय स्थिति, सपर्क आदि का प्रभाव पड़ने जैसे उनमें परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही उसे प्रकट करने के ढग में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। किसी निर्दिष्ट काल का कोई ग्रथकार या कवि उस काल की विशेषता के कारण, अपने भावों या विचारों को उस काल की प्रकृति या परिस्थिति के प्रभाव से अछूता नहीं रख सकता। इस दशा में उन विचारों या भावों के व्यक्तीकरण का ढग भी उस प्रभाव की पहुँच की सीमा के बाहर नहीं रह सकता। उसे भी अपना रूप बदलना ही पड़ता है। जैसे किसी कवि की कृति की अतरात्मा पर, चाहे उस पर उसकी व्यक्तिगत सत्ता की छाप कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो, उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, वैसे ही उसकी रचना का बाहरी रूप भी उसके प्रभाव से नहीं बच सकता। इस सिद्धात को स्पष्ट करने के लिये हम उदाहरणवत् लल्लूलाल और हरिश्चन्द्र के गद्य को उपस्थित करते है। इन दोनों के गद्य को ध्यानपूर्वक पढकर विवेकशील पाठक स्पष्ट देख सकते हैं कि दोनों की लेखन-शैली में कितना अतर है। यह सच है कि लल्लूलाल ने व्रज भाषा के पद्य और व्रज मडल की बोली का सहारा लेकर गद्य लिखने का प्रयत्न किया है और हरिश्चन्द्र को लल्लूलाल के पीछे के और अपने से ७०, ८० वर्ष पहले के गद्य के विकसित रूप का सहारा

शैली और साहित्य

ंजना आदि वृत्तियों तथा अलकार, रस रीति और गुण-दोष ादि का वर्णन करता है ।

कुछ विद्वान् साहित्य-शास्त्र का स्वतंत्र अध्ययन आवश्यक, पयोगी और मनोरजक बताते है। पर हमे तो यहाँ उक्त शास्त्र अनुसार प्रस्तुत की कई कृतियों के अध्ययन के सबध मे ही चार करना है। हमे तो यही देखना है कि इस शास्त्र की हायता से आनन्द का उद्रेक करने मे काव्य कहाँ तक समर्थ ोता है। साहित्य शास्त्र के नियम काव्य रचना के सहायक ात्र हैं—वे काव्य के आधार नहीं। काव्य के मूल रूप की त्ता उनसे अलग और स्वतत्र है। इस बात को भूलकर साहित्य ास्त्र का विश्लेषण ही अपना मुख्य कर्तव्य मान लेना, मानों किसी उद्यान की सुन्दरता का अनुभव न करके यह बात जानने न लग जाना है कि माली ने किन नियमों के परिपालन से उसे सुन्दरता का रूप दिया है। साधारण लोगों के लिय तो उस सुन्दरता का अनुभव करना ही मुख्य बात है, माली की कला का विवेचन गौण है। इसी प्रकार मानव हृदय पर ललित कलाओं का जो प्रभाव पडता है और उसके कारण आनद का जो अनुभव होता है, वही मुख्य है, और वही जानना भी चाहिए। रहा इस बात का जानना कि किन किन उपायों का अवलवन करके कोन कला सफल और उन्नत हो सकी है, गौण बात है। हाँ, जो किसी विशेष कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों अथवा जिनमें सहज प्रतिभा वर्तमान हो, वे उस कला क नियमों और सिद्धातों का अध्ययन ... चूडात ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अपने ... हैं। किसी तैयार की

आलोचना की आधारभूत हो सकती है। आरंभ में यह भी क
जा चुका है कि काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें मानी
जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की विशिष्ट रीति के
मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें लोकोत्तर
देनेवाले तथा मनोमोहक मूल तत्वों की सामग्री विशेष रूप
वर्तमान हो। इस भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिये यह
लिखा जा चुका है कि जीवन व्यापार के निरीक्षण द्वारा
संचित सामग्री को कवि कौशल द्वारा काव्य-कला का रूप
है, वह बुद्धि-तत्व, रागात्मक तत्व और कल्पना-तत्व पर अ
रहने के अतिरिक्त एक चौथे तत्व को भी आश्रित रहती है।
वही तत्व उस सामग्री को ऐसा रूप देता है जो क्रम, चारुता
और प्रभावोत्पादकता के सिद्धांतों के अनुकूल होता है।
इन तत्वों का आश्रय लिए कवि की कृति में चारुता और मनो-
मोहकता नहीं आ सकती, चाहे उसकी सामग्री कैसी उत्तम
न हो और उसके विचार, भावनाएँ और कल्पनाएँ कितनी ही
परिपक्व और अश्रुतपूर्व क्यों न हों। इस रचना-चमत्कार के विषय
में आगे चलकर विशेष विवेचना की जायगी। यहाँ इतना कह
देना आवश्यक है कि जिस प्रकार अन्यान्य ललित कलाओं के
सिद्धांतों और नियमों के अनुसार प्रस्तुत सामग्री को उन कलाओं
का मूर्त रूप दिया जाता है, उसी प्रकार काव्य-कला को भी
निर्दिष्ट नियमों और सिद्धांतों का अनुसरण करना पड़ता है। तभी
वह सुन्दरता आनंद का उद्रेक करने में समर्थ होती है। इन
नियमों और सिद्धांतों का समावेश अलंकार आदि के रूप में
"साहित्य शास्त्र" में होता है। यह शास्त्र अभिधा, लक्षणा,

चौथा अध्याय

कविता का विवेचन

हम यह कह चुके हैं कि काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आती हैं जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति के कारण मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप सौष्ठव का मूल तत्व तथा उसके द्वारा आनंद का उद्रेक करने की शक्ति विशेष रूप से वर्तमान हो। इस लक्षण का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि काव्य मे दो बाते मुख्य हैं—एक तो विषय और उसके प्रतिपादन की रीति का मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली होना, और दूसरे रूप सौष्ठव और उसके द्वारा आनंद का उद्रेक होना। ये दोनों गुण गद्य और पद्य दोनो में हो सकते हैं। हमारे भारतीय शास्त्रकारो ने मुख्यतया पद्य में ही इन गुणों का होना माना है। साधारणत काव्य शब्द से पद्य ही का बोध होता है। जहाँ उन्हे गद्य का निर्देश करना आवश्यक हुआ है, वहाँ उन्होने "गद्य-काव्य" पद का प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि पद्य काव्य की ओर उन्होने विशेष ध्यान दिया है, तथापि वे यह बात भी मानते थे कि गद्य मे भी काव्य के लक्षण आ सकते हैं। यह युग गद्य का है, अतएव काव्य के अंतर्गत हमें पद्य काव्य और गद्य काव्य दोनो मानने चाहिएँ। पद्य का दूसरा नाम कविता है जिसमें मनोविकारो पर प्रभाव

कविता और पद्य

हुई वस्तु और उसके तैयार होने की विधि में जा अन्तर वही अन्तर काव्य और साहित्य शास्त्र में भी है। यह ... है कि किसी तैयार की हुई वस्तु को देख कर हम यह जानने लिये उत्सुक हो कि यह कैसे तैयार की गई है। तब तो हमें कारखाने में जाना पड़ेगा जिसमें वह बनी होगी और निर्माण की सभी प्रक्रियाओं को एक एक करके देखना होगा इसी प्रकार किसी काव्योत्पादक के कारखाने की देखभाल कल पुर्जों की जाँच, जिनकी सहायता से काव्य प्रस्तुत होता है हम में से विशेष प्रवृत्ति के कुछ ही लोगों के लिये आवश्यक सकती है। पर इस तरह की जाँच पड़ताल सहृदयों के लिये काव्य रस के लोलुप रसिक मधुव्रतों के लिये—कहाँ तक मनोर होगा, इसमें संदेह ही है। अतएव काव्य-कला को रीति, अलंकार आदि बाहरी बातों अथवा उनके विवेचक ग्रन्थों में ढूँढना भूल है।

ग का, उनकी भाषा के रग-ढग का है। सरल शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि पद्य मे लय-सयुक्त भाषा या वृत्त की भी आवश्यकता है जो कविता का बाह्य रूप है। उसकी अतरात्मा मनोवेग और कल्पना हैं। इस अध्याय में हम कविता और पद्य के कुछ साधारण भेद के विषय मे लिख चुके हैं। जिस वाक्य मे कविता का बाह्य रूप अर्थात् लय मय भाषा या वृत्त ही होगा, उसकी अन्तरात्मा अर्थात् मनोवेगो और कल्पना का बाहुल्य न होगा, वह पद्य के नाम से पुकारा जा सकेगा, कविता के महत्वपूर्ण नाम का अधिकारी न होगा। अतएव जहाँ केवल कल्पना और मनोवेग ही हो, वहाँ समझना चाहिए कि कविता की अन्तरात्मा अपने बाह्य रूप के बिना ही वर्तमान है, और जहाँ केवल वृत्त हो, वहाँ समझना चाहिए कि उसका बाह्य रूप, अन्तरात्मा के बिना, खड़ा किया गया है। साराश यह है कि कविता मे, वास्तविकता मे, बाह्य रूप और अन्तरात्मा दोनों का पूर्ण सयोग आवश्यक और अनिवार्य है।

कविता और वृत्त

कुछ लोगो का कहना है कि कविता के लिये वृत्त की आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है कि वृत्त एक प्रकार का परिधान है, वह कविता का भूषण है, उसका मूल तत्व नहीं है, उसके बिना भी कविता हो सकती है और हुई है। यह सच है कि गद्य मे भी कविता के लक्षण उपस्थित रह सकते हैं, पर वह कविता नहीं है, वह गद्य है। यह और बात है कि हम उसमें उन गुणो की विशेषता देखकर उसे "कवितामय गद्य" की उपाधि दें, पर है वह वास्तव मे गद्य ही। बिना वृत्त के कविता न आज तक कहीं मानी गई है

त्मक तत्वों का बाहुल्य हो। कविता की यह विशेषता है। जीवन से संबंध रखनेवाली जिस किसी बात से उसका होगा, उसमें मनोवेग अवश्य वर्तमान होंगे, तथा कल्पना मे वह प्रस्तुत सत्ता को काल्पनिक सत्ता का और काल्पनिक को वास्तविक सत्ता का रूप दे देगी। इसका तात्पर्य यह है एक तो कविता में मनोवेगों (भावों) और रागों की होगी, और दूसरे कल्पना का प्राबल्य इतना अधिक होगा वास्तविक वस्तुएँ कल्पनामय बन जायँगी, और जो है, अर्थात् जिनकी उत्पत्ति कवि के अंत करण में हुई है, वे वास्त विक जान पड़ने लगेंगी।

परन्तु केवल इन्हीं दोनों गुणों के कारण कविता का स्वरूप स्थिर नहीं होगा। हम यह नहीं कह सकते कि जहाँ मनोवेग और कल्पना की प्रचुरता हुई, वहाँ कविता का प्रादुर्भाव भी हुआ। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि ये दोनों तत्व अत्यंत आवश्यक हैं, और जिस वाक्य में ये न होंगे, वह कविता न कहला सकेगा। परंतु इनके अतिरिक्त कुछ और भी है। गद्य में भी वे रागात्मक और कल्पनात्मक गुण वर्तमान हो सकते हैं, पर ऐसा गद्य कवितामय कहलावेगा, कविता नहीं। गद्य और कविता में कुछ भेद है। प्राय ऐसा होता है कि गद्य भी कवितामय हो सकता है और कविता भी गद्यमय हो सकती है। अतः यह जानना आवश्यक हुआ कि दोनों में भेद क्या है। वह गुण जो कविता में ऊपर कहे हुए दो तत्वों के अतिरिक्त आवश्यक है, वही है जो गद्य और पद्य का भेद निर्धारित करता है। गद्य और पद्य में मुख्य भेद उनके रूप का, उनकी भाव-व्यंजना

मनोवेग उत्तेजित हो उठते हैं, हमारे भावों में अद्‌भुत परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना का अनुसरण करती हुई, जहाँ जहाँ वह ले जाता है, चली जाती है और अपनी सत्ता भूलाकर उसकी सत्ता में लीन हो जाती है। अतएव कविता को संगीत या वृत्त से अलग करना उसके एक प्रधान गुण को छोड़ देना है। 7|1|45

कविता और विज्ञान

हम यह बतला चुके हैं कि कविता मनोवेगो और कल्पनाओं द्वारा होनेवाली जीवन की व्याख्या है। इसे भली भाँति समझने के लिये कविता और विज्ञान का मुख्य भेद जान लेना आवश्यक है। विज्ञान का संबध संसार के प्राकृतिक तत्वों या भूतार्थों से है। अर्थात वह उन वस्तुओं पर विचार करता है जो भौतिक वास्तविकता से संबध रखती हैं। वैज्ञानिक भौतिक वस्तुओं के रूप, आकार, रचना, गुण, स्वभाव और संबध पर विचार करता, उन्हें परस्पर मिलाता, उनका वर्गीकरण करता तथा उन कारणों या क्रियाओं का पता लगाता है जिनके अधीन होकर वे अपना वर्तमान रूप धारण करती है। इस प्रकार विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत के इस बाह्य रूप का विपयात्मक विचार करता है, और एक एक प्राकृतिक तत्व को मिलाकर पहले सादृश्य के बल पर कई वर्ग स्थापित करता और फिर कई छोटे छोटे वर्गों से एक बड़ा वर्ग स्थापित करता है। इस प्रकार वह सृष्टि में अनेकता और अस्तव्यस्तता के स्थान पर एकता और क्रमशीलता स्थापित करने का उद्योग करता है। अतएव विज्ञान का उद्देश पदार्थों की क्रमबद्ध, बुद्धि संगत और सहेतुक व्याख्या करना है जिसके अंतर्गत उनका

और न मानी जाती है। फिर यह बात भी विचारणीय है कि मानव जीवन में संगीत का भी एक विशेष स्थान है। प्रकृति ही संगीतमय है। मंद मंद वायु के संचार, झरनों की कलकल ध्वनि पत्तों की सरसराहट, नदियों के प्रवाह, पक्षियों के कलरव, यहाँ तक कि समुद्र-गर्जन में भी संगीत है, जिससे मनुष्य की आत्मा को आनंद और संतोष प्राप्त होता है। इसे कविता से अलग करना मानों उसके रूप, उसके महत्व और उसके प्रभाव को बहुत कुछ कम कर देना है। कुछ लोग वृत्त को एक प्रकार का बंधन मानते हैं और कहते हैं कि इसकी यह बेड़ी काट दो, इसे मुक्त कर दो, यह स्वतंत्र होकर अपना कार्य करे। परंतु जो लोग कविता के प्रेमी हैं, जिन्होंने उसके अमृत रस का आस्वादन किया है, जो उसकी मिठास का अनुभव कर चुके हैं, वे मुक्त कंठ से कहते हैं कि उसकी संगीतमय भाषा का गंभीर और आह्लादकारी प्रभाव उसका महत्व बढ़ाता, उसे मधुर और मनोहारी बनाता तथा मानव हृदय में अलौकिक आनंद का उद्रेक करता है। एवं कविता का संगीतमय बाह्य रूप नष्ट करना मानो कविता की शक्ति का नाश करना है।

केवल इतना ही नहीं है। सृष्टि के प्रारंभ से सभी गंभीर और मर्मव्यापी भावों को मनुष्य ने संगीतमय भाषा में ही व्यंजित किया है। यह गंभीरता और मर्मस्पर्शिता जितनी ही अधिक होगी, संगीत उतना ही उन्नत और मधुर होगा। अतएव कविता और वृत्त या संगीत का संबंध बहुत पुराना और स्थायी है। इस संबंध के कारण हम कभी कभी इस संसार को भूलकर एक दूसरे ही अलौकिक आनंद लोक में जा विराजते हैं, हमा

मनोवेग उत्तेजित हो उठते हैं, हमारे भावों मे अद्भुत परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना का अनुसरण करती हुई, जहाँ जहाँ वह ले जाता है, चली जाती है और अपनी सत्ता भूलकर उसकी सत्ता में लीन हो जाती है। अतएव कविता को सगीत या वृत्त से अलग करना उसके एक प्रधान गुण को छोड देना है। 7|1|45

हम यह बतला चुके हैं कि कविता मनोवेगो और कल्पनाओ द्वारा होनेवाली जीवन की व्याख्या है। इसे भली भाँति समझने के लिये कविता और विज्ञान का मुख्य भेद जान लेना आवश्यक है। विज्ञान का साथ ससार के प्राकृतिक तत्वो या भूतायों से है। अर्थात् वह उन वस्तुओं पर विचार करता है जो भौतिक वास्तविकता से सबध रखती हैं। वैज्ञानिक भौतिक वस्तुओं के रूप, आकार, रचना, गुण, स्वभाव और सबध पर विचार करता, उन्हे परस्पर मिलाता, उनका वर्गीकरण करता तथा उन कारणों या क्रियाओं का पता लगाता है जिनके अधीन होकर वे अपना वर्तमान रूप धारण करती हैं। इस प्रकार विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत् के इस बाह्य रूप का विषयात्मक विचार करता है, और एक एक प्राकृतिक तत्व को मिलाकर पहले सादृश्य के बल पर कई वर्ग स्थापित करता और फिर कई छोटे छोटे वर्गों से एक बड़ा वर्ग स्थापित करता है। इस प्रकार वह सृष्टि मे अनेकता और अस्त-व्यस्तता के स्थान पर एकता और क्रमशीलता स्थापित करने का उद्योग करता है। अतएव विज्ञान का उद्देश पदार्थों की क्रमबद्ध, बुद्धि सगत और सहेतुक व्याख्या करना है जिसके अतर्गत उनका

कविता और विज्ञान

गुण, उद्गम और इतिहास सम्मिलित रहता है, और जो कार्य कारण-संबंध तथा प्राकृतिक नियम के आधार पर की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बच जाता है, उससे विज्ञान का न कोई संबंध है और न प्रयोजन।

परंतु यह स्पष्ट है कि इस वैज्ञानिक व्याख्या के अनंतर जो कुछ बच रहता है, उससे हमारा बड़ा घनिष्ट संबंध है। हम संसार के नित्य-व्यवहार में देखते हैं कि पदार्थों या घटनाओं के वास्तविक रूप से हम आकृष्टित नहीं होते, वरन् उनका बाह्य रूप और हमारे मनोवेगों पर उनका प्रभाव हमें विशेष आकृष्ट करता है। जब हम विज्ञान के अध्ययन में लगे रहते हैं, तब समस्त सृष्टि को प्राकृतिक घटनाओं की एक समष्टि समझते हैं, जिनकी जाँच करना, जिनका वर्गीकरण करना और जिनका कारण ढूँढ निकालना हमारा कर्तव्य होता है। परंतु हम अपने नित्य के व्यवहार में इन घटनाओं को इस दृष्टि से नहीं देखते। विज्ञान के उन घटनाओं का पूरा पूरा समाधान करनेवाला कारण बता देने पर भी हम उनकी अद्भुतता और सुंदरता से ही प्रभावान्वित होते हैं। कैसी ही स्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या क्यों न हो, वह हमारे इस प्रभाव को निर्मूल नहीं कर सकती, उलटे वह उसके बढ़ाने ही का कारण होती है। इसी साधारण बात में हमें कविता के मूल और उसकी शक्ति का पता लगता है। साधारणत हमें सृष्टि की अद्भुतता और सुन्दरता का अनुभव अस्पष्ट और कुंठित सा होता है। पर जब हमारी संवेदना उत्तेजित हो उठती है, तब यही अनुभव बहुत स्पष्ट और प्रभावोत्पादक हो जाता है और हममें आनंद, आश्चर्य, कृतज्ञता, आदर भाव आदि का उद्रेक करता है। ऐसी

‍ी चित्तवृत्ति से कविता का प्रादुर्भाव होता है और वह सांसारिक पदार्थों को रागात्मक तथा आध्यात्मिक भावना से रंजित करके हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। इस दृष्टि से कविता विज्ञान के प्रतिकूल तथा अनुकूल दोनों होती है।

ऊपर हमने कविता और विज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे स्पष्ट और मनोनिविष्ट करने के लिये हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं। जब हम किसी बगीचे में जाते हैं, तब भिन्न भिन्न ऋतुओं में होनेवाले रंगविरंगे मनोहर फूलों को देखकर माली से उनके नाम पूछते हैं। वह किसी का नाम गुलाब, किसी का कमल और किसी का जूही, चमेली या हरसिंगार बताता है। विज्ञान-विशारद हमें बतावेगा कि यह फूल इस श्रेणी का है, इसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है, इसमें सुगन्धि ऐसे आती है, उसके गर्भ, केसर और पराग का इतिहास इस प्रकार है आदि। इसमें सन्देह नहीं कि जो कुछ वैज्ञानिक कहेगा, वह अत्यंत ही अद्भुत और मनोरंजक होगा, परन्तु हम जिस दृष्टि से उन फूलों को देखते हैं, वह कुछ और ही है। उसकी सुंदरता और मधुरता का अनुभव करने के लिये हमें कवि का आश्रय लेना पड़ेगा। वही हमारे लिये यह काम कर सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड का कहना है—"कविता की महती शक्ति इसी में है कि वह वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार करती है कि हममें उनके विषय में एक अद्भुत, पूर्ण, नवीन और गहरी भावना उत्तेजित हो जाती है। इस प्रकार वह उनसे हमारा सम्बन्ध स्थापित करती है। हमें इस बात का पता नहीं लगता कि वह भावना भ्रमात्मक है अथवा वास्तविक, अथवा वह हमें वस्तुओं का

वास्तविक प्रकृति या गुणों का ज्ञान कराती है या नहीं। हमें तो इस बात से काम है कि कविता हममें इस भावना को उत्तेजित करती है, और इसी में उसकी महत्ता है। विज्ञान पदार्थों की इस भावना को वैसा उत्तेजित नहीं करता, जैसा कि कविता करती है।" देखिए, इन्हीं फूलों में से किसी किसी फूल को चुनकर कवि क्या कहते हैं—

—"खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर, बेलें हँसतीं मन में॥
रूप अनूठा लेकर आया, मृदु सुगंधि फैलाई।
सब के हृदय-देश में अपनी प्रभुता ध्वजा उड़ाई॥"

"अहो कुसुम कमनीय कहो क्यों फूले नहीं समाते हो।
कुछ विचित्र ही रंग दिखाते मंद मंद मुसकाते हो॥
हम भी तो कुछ सुनें, किस लिये इतना है उल्लास तुम्हें।
बात बात में खिल खिलकर तुम किसकी हँसी उड़ाते हो॥
कैसी हवा लगी यह तुमको, क्षणिक विभव में भूलो मत।
अभी सवेरा है, कुछ सोचो, अवसर व्यर्थ गँवाते हो॥"

"ग्रीष्म काल के अंत समय की यह कलिका है अति प्यारी।
विकसी हुई अकेली शोभा पाती इसकी छवि न्यारी॥
कलियाँ और खिली थीं जो सब थीं इसकी सखियाँ सारी।
सो सब कुम्हला गईं देखिए, सूनी है उनकी क्यारी॥
'सुख दुख दोनों आते जाते इस जग में बारी बारी।'
इन कलिकाओं से सूचित है विधि-विपाक यह संसारी॥"

भारतवासी मात्र ग्रीष्म के ताप की प्रचंडता और वर्षा के शान्तिमय सुखद प्रभाव का अनुभव करते हैं। वैज्ञानिक तो हमें इतना ही बतावेगा कि बाहर अमुक दिन ताप इतनी डिग्री और

ाया मे इतनी डिग्री था, और गत वर्ष की अपेक्षा इतना कम ा अधिक था। पर कवि कहेगा—

"प्रबल प्रचंड चडरर की किरन देखो
    वैहर उदइ नव खड घुमलति है।
औटि के कराही रतनाकर को तेल जैसो
    नैन करि जल की लहर उलउति है।
ग्रीपम की कठिन कराल ज्वाल जाती यह
    काल व्याल मुरहू की देहँ पिघलति हे।
लका भयो आसमान भूधर भभूका भयो
    भभकि भभकि भूमि दावा उगलति है॥"

"जीवन को ग्रासकर ज्वाला को प्रकासकर
    भोर ही ते भासकर आसमान छायो हे।
धमक धमक धूप सूखत तलाब कूप
    पौन कौन जौन भौन आगि म नचायो हे।
तकि थकि रहे जकि सकल बिहाल हाल
    ग्रीपम अधर घर सचर सतायो हे।
मेरे जान काहू वृषभान जगमोचन को
    तीसरो त्रिलोचन को लोचन खुलायो है॥"

वर्षा के सबध मे वैज्ञानिक विद्वान् यह कहेगा कि मौसिमी हवा इतने वेग से चली आ रही है, वह इस दिशा की ओर जा रही है और उसके कारण अमुक प्रांतों में वर्षा होने की सभावना है, अथवा इन इन स्थानों मे इतने इच पानी वरसा। पर कवि कहेगा—

"सुखद सीतल सुचि सुगधित पवन लागी वहन।
सलिल बरसन लगो, बसुधा लगी सुखमा लहन॥

लहलही लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन बृच्छ मंजुल विपुल॥
हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इंद्रधनु अवली छटा मानिक बरन॥
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुक्तावली।
चन्द्रहास समान चमकति चंचला त्यों भली॥
नील नीरद सुभग सुरधनु वलित सोभाधाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनस्याम॥
कूप कुंड गँभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे, लगे झरना झरन॥
रटत दादुर विविध लागे रुचन चातक वचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गरजत मनहुँ पावस भूप को दल सजल।
विजय दुंदुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥"

इससे प्रकट है कि कवि की कल्पना हमारे सुख-दुख आदि की भावनाओं का जैसा सुन्दर और प्रभावोत्पादक तथा सच्चा चित्र खींच सकेगी, वह वैज्ञानिक की कार्य-सीमा के बाहर है।

यह कहना कि कवि की कल्पना में सत्यता का अभाव रहता है, सर्वथा अनुचित है। सत्यता का जो अर्थ साधारणतः किया जाता है, उसे कविता में ढूँढना ठीक न होगा। वह तो केवल विज्ञान में मिल सकता है। कविता में सत्यता से अभिप्राय उस निष्कपटता से है, जो हम अपने भावों या मनोवेगों का व्यंजन करने में, उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रत्यक्ष करने में तथा उनके कारण हम में जो सुख दुःख, आशा निराशा, भय-आशंका, आश्चर्य,

कवि-कल्पना में सत्यता

चमत्कार, श्रद्धा-भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते है, उनको अभिव्यक्त करने मे प्रदर्शित करते हैं। अतएव कविता में सत्यता की कसौटी यह नहीं हो सकती कि हम वस्तुओं का वास्तविक रूप खोलकर दिखावे, किंतु इस बात मे होती है कि उन वस्तुओं की सुन्दरता, उनका रहस्य, उनकी मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट प्रकट करके दिखावें। यही कविता द्वारा जीवन की—मानव जीवन और प्राकृतिक जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप मे, व्याख्या है'। परन्तु यह बात न भूलनी चाहिए कि कवि का संबंध वस्तुओं की सुन्दरता, उनके भीतरी रहस्य और उनकी मनोमुग्धकारिता से है, इस कारण कवि जो चाहे, लिखने के लिये स्वतन्त्र है। उसके लिये प्राकृतिक घटनाओं का, वस्तुओं की वास्तविक स्थिति आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है। यह सच है कि कवि हमें वस्तुओं के गूढ भाव का परिचय, हमारे और उनके परस्पर सम्बन्ध को कल्पना और मनोवेगों से रंजित करके कराता है, परन्तु हम यह बात नहीं सह सकते कि वह हमें अँधेरे में ढकेल दे और वस्तुओं के विकृत रूप से हमें परिचित करावे। उसका सांसारिक ज्ञान और प्राकृतिक अनुभव स्पष्ट, सच्चा और स्थायी होना चाहिए, और जिन घटनाओं या बातों को वह उपस्थित करे, उनके सम्बन्ध में उसके सिद्धांत निष्कपटता तथा सचाई की नींव पर स्थित हों। जहाँ इसका अभाव हुआ, वहाँ कविता की महत्ता बहुत कुछ कम हो गई।

श्रीपति कवि लिखते हैं—"गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई आगे चपला निकाई अति लागत सहल सी।" चपला की

चमक प्रसिद्ध है। उस चमक या द्युति से गात की उपमा न देकर "गात की गुराई" की उपमा देना अनुचित है।

भिखारीदास जी कहते हैं—"कज सकोच गडे रहे कीच मीनन बोरि दियो दह तीरन।" कमल के फूल और पत्ते पानी के ऊपर रहते हैं, उनकी नाल अवश्य पानी के नीचे में गडी रहती है। आँखो की उपमा कमल के फूल या पखडियों से दी जाती है, कमल के समूचे पौधे से नहीं। के मारे कमल को अपना वह अग छिपाना था, जो आँख टक्कर का नहीं था, पर उसे तो वह ऊपर ही रखता है। ऐसी उक्ति प्रकृति-निरीक्षण के प्रतिकूल होने से ग्राह्य न चाहिए।

गोसाईं तुलसीदासजी ने कहा है—

"फूलै फलै न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥"

पहले तो बेंत फलता और फूलता है। फिर सुधा का गुण जीवन दान देना या अमर करना माना जाता है। उसके से कोई पौधा यदि सूखा हुआ हो, तो हरा-भरा हो सकता है या सदा जीवित रह सकता है, पर अपनी जाति या अपना गुण नहीं बदल सकता। गोस्वामीजी ने कवि-पद्धति के अनुसार बेंत का न फूलना फलना लिखा है, पर यह बात प्रकृति के विरुद्ध है। इसी प्रकार चकोर का आग खाना, चन्द्रकात मणि का जल टपकाना आदि कवि कल्पित बातें हैं, जिनका व्यवहार कविजन केवल अध परपरा के कारण करते आते हैं। हमारी समझ में अब इस -परपरा को छोड़कर प्रकृति का अनुसरण करना ही उचित और

ानगत होगा। प्रकृति के विरुद्ध बातें यदि कवि पद्धति के अनुसार
हों, तो वे कवि की परतंत्रता सूचित करती हैं, पर जहाँ कवि-
प्रथा का अनुसरण भी नहीं है, वहाँ वैसी उक्तियाँ कवि की
अज्ञानता, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना ही सूचित करती
हैं। जैसे बिहारी सतसई के कर्त्ता ने यह दोहा लिखा है—

"सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं, धर धरहर हिय नारि॥"

जिन्हें इस बात का अनुभव है कि किस ऋतु में कौन कौन धान्य उत्पन्न होते हैं या पकते हैं, वे कहेंगे कि कपास पहले होती है और सन पीछे उखाड़ा जाता है। पर बिहारीलाल जी ने सन के पीछे कपास का होना बताया है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना बहुत होगा कि कवि ने अपने या दूसरों के अनुभव से काम नहीं लिया, और इस प्रकार प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला। शृंगार-सतसई के कर्त्ता ने इस भाव को इस दोहे में इस प्रकार दिखाया है—

"कित चित गोरी जो भयो, ऊख रहरि के नास।
अजहूँ भरी हरी हरी जहँ तहँ खरी कपास॥"

और अरहर के कट जाने पर भी कपास के पौधों का जहाँ तहाँ हरा रहना वर्णन किया है जो ठीक ही है।

कवि देवजी ने रसविलास में "कसमीर की किसोरी" का वर्णन करते हुए लिखा है—"जोबन के रंग भरी ईंगुर से अंगनि पै ऐंडिन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की।" ऐसा जान पड़ता है कि कवि जी ने किसी से सुन लिया होगा कि काश्मीर की युवतियों का रंग बहुत लाल होता है। ईंगुर से अच्छा

चमक प्रसिद्ध है। उस चमक या द्युति से गात की कांति
उपमा न देकर "गात की गुराई" की उपमा देना अनुचित है।

भिखारीदास जी कहते हैं—"कंज सकोच गडे रहे कीच
मीनन बोरि दियो दह नीरन।" कमल के फूल और पत्ते
पानी के ऊपर रहते हैं, उनकी नाल अवश्य पानी के नीचे
में गडी रहती है। आँखों की उपमा कमल के फूल या उनकी
पंखडियों से दी जाती है, कमल के समूचे पौधे से नहीं।
के मारे कमल को अपना वह अंग छिपाना था, जो आँख
टक्कर का नहीं था, पर उसे तो वह ऊपर ही रखता है।
ऐसी उक्ति प्रकृति-निरीक्षण के प्रतिकूल होने से ग्राह्य न हो
चाहिए।

गोसाईं तुलसीदासजी ने कहा है—

"फूलै फरै न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुर मिलहिं बिरंचि सम॥"

पहले तो बेंत फलता और फूलता है। फिर सुधा का
जीवन दान देना या अमर करना माना जाता है। उसके
से कोई पौधा यदि सूखा हुआ हो, तो हरा-भरा हो सकता है
या सदा जीवित रह सकता है, पर अपनी जाति या अपना गु
नहीं बदल सकता। गोस्वामीजी ने कवि-पद्धति के अनुसार
का न फूलना फलना लिखा है, पर यह बात प्रकृति के विरुद्ध है
इसी प्रकार चकोर का आग खाना, चंद्रकांत मणि का जल टपका
आदि कवि-कल्पित बातें हैं, जिनका व्यवहार कविजन केव
अंध परंपरा के कारण करते आते हैं। हमारी समझ में अब इ
परंपरा को छोड़कर प्रकृति का अनुसरण करना ही उचित अ

देखिए, पंडित रामचंद्र शुक्ल ने बुद्धचरित में वसंत का कैसा सुंदर वर्णन किया है—

“पुर बाग तड़ाग लसैं चहुँ ओर।
लसे नृप पल्लव सों लहरै लहिकै तरु मंद समीर झकोर।
कहूँ नव किंसुक-जाल सों लाल लखात घने वनखंड के छोर।
परैं जहँ खेत सुनात तहाँ श्रमलीन किसानन को कल सोर।
लिए खरिहानन में सुथरे पथ पार पयार के ढूह लखात।
मढ़े नव मंजुल मौरन सों सहकार न अंगन माहिं समात।
भरी छबि सों छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत बात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात।
लदे कलियान औ फूलन सों कचनार रहे कहुँ डार नवाय।
भरो जहँ नीर धरारस भीजि कै दीनी है दूब की गोट चढ़ाय।
रह्यो कल गान विहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सों आय।
कहुँ लघु जंतु अनेक, भगे पुनि पास की झाड़िन को झहराय।
डोलत हैं बहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भागत झाड़िन सों कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय।
बागन के फल पै कहूँ कीर हैं आगत चोंच चलाय चलाय।
धावत हैं धरिबे हित कीटन चाष घनी चित चाह चढ़ाय।
कूक उठै कबहूँ कल कंठ सों कोकिल कानन में रस नाय।
गीध गिरैं छिति पे कछु देखत, चील रहीं नभ में मँडराय।
श्यामल रेख धरे तन पै इत सों उत दौरि के जाति गिलाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ बक बैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय।
चित्रित मंदिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय।
वस्तुन सों सब शांति समृद्धि रही बहु रूपन में दरसाय।
देखि इतो सुख साज कुमार रह्यो हिय में अति ही हरसाय।”

लाल रग कवि जी के ध्यान में न आया होगा, इसलिये उसके अगों की उपमा ईंगुर से दे दी। यदि अमेरिका के इडियनो के रग की उपमा ईंगुर से दी जाती तो उपयुक्त सकता था। पर 'कसमीर की किसोरी' के अग की उपमा से देना सर्वथा अनुचित और अनुपयुक्त है। हाँ, यदि कोमल कपोलो की उपमा किसी अच्छे गहरे लाल रग से तो हो सकता था, पर वह भी सर्वथा ठीक न होता। उस उपमा गहरे गुलाबी रग या सेब की ललाई से देना उपयुक्त प्रकृति-सगत होता।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि कवि को अपनी कल्पना के आगे प्रकृति का गला घोटने या कम से कम उसके सर्वथा प्रतिकूल बातें कहने का अधिकार नहीं है।

यहाँ पर हम कवियों के प्रकृति के चित्र चित्रण के दो अच्छे उदाहरण देकर यह दिखाना चाहते हैं कि उन्होंने कैसे के अनुभव और निरीक्षण के साथ अपनी कल्पना को भी सुचारु रूप से सज्जित किया है।

शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए सेनापति कहते हैं—

"कातिक की राति थोरी थोरी सियराति सेना-
पति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चद चाँदिनी छिटकि रही
राम कैसो जस अध अरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहुँ जगत छीरसागर मगन है॥"

यहु विधि दृश्य अदृश्य कला-कौशल सौं छायौ।
रच्छन निधि नैसर्ग मनहुँ विधि दुर्ग बनायौ ॥"

कविवर बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर मरघट का कैसा अच्छा वीभत्सपूर्ण वर्णन करते हैं—

"कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहुँ दहदह दहकति॥
कहुँ फूकन हित धरयो मृतक तुरतहिं तहँ आयो।
परयो अंग अधजरयो कहूँ कोउ कररायो॥
कहूँ स्वान एक अस्थिखंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारी महि काक ठोर सौं ठोंकि टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत।
जहँ तहँ मज्जा माँस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥
हरहरात इक दिसि पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामैं घंट घने माटी के बासन॥
वर्षा ऋतु के काज और हू लगत भयानक।
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकार।
काक मंडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारैं॥"

देखिए, बाबा दीनदयाल गिरि ने चंद्रमा पर कैसी अच्छी अन्योक्ति कही है—

"भलो मृग धारे जगत नाम कलंका लाग।
तऊ कियो न मयंक तुम सरनागत को त्याग॥

वर्षा मे नदियों के बढने का कैसा सुंदर वर्णन पंडित श्रीधर पाठक करते हैं—

"बहु वेग बढे गदले जल सों
तट रूख उखारि गिरावती हैं।
करि घोर कुलाहल व्याकुल ह्वै
थल नीर-करारन ढावती हैं।
मरजादहि छोडि चली कुलटा
सम विभ्रम-भौंर दिखावती हैं।
इतराति उतावरी बावरी सी
सरिता चढि सिंधु को धावती हैं।"

वे ही कवि "काश्मीर सुखमा" में प्रकृति का वर्णन कैसे सुंदर शब्दों में करते हैं—

"प्रकृति इहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥
विमल अंबु सर मुकुरन महँ मुखबिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन मन वारति॥
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी॥
विहरति विविध-विलास-भरी जोबन के मद सनि।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति बनि ठनि।
मधुर मंजु छविपुंज छटा छिरकति बनकुंजन।
चितवति, रिझवति, हँसति, डसति, मुसकाति, हरति मन॥
× × × × ×
हिमसैननि सों घिरयो अद्रिमंडल यह रूरो।
सोहत द्रोनाकार सृष्टि सुखमा सुठ पूरो॥

यहु विधि दृश्य अदृश्य कला कौशल सौं छायौ।
रच्छन निधि नैसर्ग मनहुँ विधि दुर्ग बनायौ॥"

कविवर बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर मरघट का कैसा अच्छा बीभत्सपूर्ण वर्णन करते हैं—

"कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहुँ दहदह दहकति॥
कहुँ फूंकन हित धरयो मृतक तुरतहिं तहँ आयौ।
परयो अंग अधजरयो कहूँ कोउ करम्पायौ॥
कहँ स्वान एक अस्थिखंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारी महि काक ठोर सौं ठोकि टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर घात लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥
हरहरात इक दिसि पीपर कौ पेड़ पुरातन।
लटकत जामैं घंट घने माटी के बासन॥
वर्षा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारैं।
काक मंडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारैं॥"

देखिए, बाबा दीनदयाल गिरि ने चन्द्रमा पर कैसी अच्छी अन्योक्ति कहा है—

"मैलो मृग धारे जगत नाम कलंकी आम।
तऊ कियो न मयंक तुम सरनागत को त्याग॥

सरनागत को त्याग कियो नहिं ग्रसे राहु के।
लिये हिये में रहो तजो नहिं रहे काहु के॥
बरनै दीनदयाल जोति मिस सो जस फैलो।
हो हरि को मन सही कहै नर पामर मैलो॥"
"पूरे जदपि पियूख तें हरसेखर आसीन।
तदपि पराये बस परे रहो सुधाकर छीन॥
रहो सुधाकर छीन कहा है जो जग बंदत।
केवल जगत बखान पाय न सुजान अनंदत॥
बरनै दीनदयाल चद हो हीन अधूरे।
जौ लगि नहिं स्वाधीन कहा अमृत तें पूरे॥"

इन उदाहरणों से यह प्रकट है कि कवि ने अपने आत्मानुभव से काम लिया है और अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को अपनी कल्पना, संवेदना और बुद्धि से रंजित करके एक ऐसा चित्र उपस्थित किया है, जो मन पर अपना प्रभाव डालकर भिन्न भिन्न रसों का संचार करता हुआ कविता के रूप को प्रत्यक्ष उपस्थित करता है। इस प्रकार के ज्ञान और उसे निष्कपटतापूर्वक प्रकट करने की पटुता को 'कवि-कल्पना में सत्यता' का नाम दिया जाता है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कवि केवल उन्हीं बातों को नहीं कहता, जिनका प्रत्यक्षीकरण उसकी दृष्टि को होता है अथवा जो उसके मनोवेगों को उत्तेजित करती हैं। वह इसके आगे बढ़ जाता है और अपनी कल्पना से काम लेकर प्रकृति का ऐसा वर्णन करता है, जो यद्यपि विज्ञान के प्रतिकूल नहीं होता, पर पग पग पर उसका अनुसरण भी न करके उसे अपनी विशेष छाप से, अपने विशेष भाव से रंजित करता है। इसी को प्रकृति का कवितामय चित्रण कह सकते हैं।

वैज्ञानिक बातों का उपयोग भी कवि अपने ढग पर करता है। किसी वनस्थली को देखकर मन मे अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते है। ससार परिवर्तनशील है, इस कारण वनस्थली म जहाँ पहले वृक्ष थे, वहाँ अब खुला मैदान हो गया है, जहाँ मैदान थे, वहाँ पेड लग गए है, जहाँ पहले छोटी छोटी नदियाँ बहती थीं, वहाँ अब सूखे नाले हैं, जहाँ सुन्दर हरे भरे मैदान थे, वहाँ नदियाँ बहने लगी हैं। इन बातों मे थोडे ही समय में परिवर्तन हो जाता है, पर पहाडो के नष्ट हो जाने या नए पहाड़ों के बनने मे बहुत अधिक समय लगता है। इसी भाव को कवि भवभूति ने रामचन्द्रजी के मुँह से कैसे अच्छे शब्दों मे कहलाया है—

"सोहत प्रथम जहाँ पेसरि थोत मञ्जु
तहाँ अब विपुल पुलिन दरसावै है।
विरल हो प्रथम विपिन तहाँ घनो भयो
जहाँ घनो तहाँ अब बिरल दिखावै है।
बहु दिन पाछें विपरीत चिन्ह देखन सों
यह कोऊ भिन्न बन शक जिय आवै है।
जहाँ के तहाँ पे किन्तु अचल अचल हेरि
'सोई पचवटी' जिसवास ये दृढ़ावै है॥"

इसी प्रकार गोस्वामी तुलीदास जी ने चित्रकूट मे पयस्विनी नदी का वर्णन किया है—

रघुवर कहेउ लखन भल घाटू।
करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥
लखन दीख पय उतर करारा।
चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥

नदी पनचसर सम दम दाना।
सकल कलुष कलसाउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी।
चुकइ न घात मार मुठभेरी॥
अस कहि लखन ठाँव दिखरावा॥
थल बिलोकि रघुबर मन भावा॥"

इससे यह प्रकट होता है कि नाले का धनुषाकार रूप देख कर कवि अपने विचारों को रोक न सका और वह नाले का वर्णन भूलकर अपने भाव के दिखाने में, अपने विचारों के प्रकट करने में लग गया। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कवि के विचारों तथा भावों के लिये चारों ओर सामग्री प्रस्तुत है, और यद्यपि उसका उपयोग या अनुभव करने में कवि की ज्ञानेंद्रियाँ ही उसकी सहायक हैं, तथापि वे वहीं जायँगी, जहाँ अनुकूल सामग्री उपस्थित होगी और जहाँ कवि को अपनी कल्पना उत्तेजित करने तथा उस कल्पना को खेलने कूदने का पूरा अवकाश मिल सकेगा। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि कवि जितना बड़ा होगा, वह उतना ही गम्भीर विचार करनेवाला, तत्वज्ञ या दार्शनिक होगा। अतएव संसार में जितने नए विचार उत्पन्न होंगे या जितनी नई वैज्ञानिक खोज होगी, सब उसके लिये आवश्यक और मनोमुग्धकारी होगी। सब का प्रभाव उस पर पड़ेगा। मनुष्यों की आशाओं, मनोरथों, उद्देश्यों आदि पर इन विचारों या खोजों का भला बुरा जो कुछ प्रभाव पड़ेगा, सब पर उसका ध्यान जायगा, और चाहे वह अपनी कविता में उनका प्रत्यक्ष उल्लेख न करे, पर फिर भी उसकी कविता किसी न किसी

और सूक्ष्म से सूक्ष्म रीति पर उनसे प्रभावित हुए विना न रह सकेगी। अतएव यह कहना कि विज्ञान की बातों से कवि का सम्बन्ध नहीं है, उचित नहीं है। वह उसके व्यापक प्रभाव से बच नहीं सकता। यदि कवि दार्शनिक विचारों का मनुष्य हुआ, तो वह विज्ञान की बातों का विरोध किए विना न रह सकेगा। आजकल जब कि नित्य नए आविष्कार और अनुसन्धान हो रहे हैं और विचारों का बवंडर सा चल रहा है, कविता और विज्ञान में यदि कुछ विरोध देख पड़े, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विचारों के विकास में मनोवेग वृद्धि के साथ साथ नहीं बने रहते, वे पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कवि साधारणतः पुराने विचारों का कट्टर पक्षपाती बना रहता है। उसे नए तथा अपरिचित विचारों से एक प्रकार की घृणा-सी हो जाती है। ज्ञान या विद्या को मनोवेगों के रूप में परिवर्तित होने में समय की अपेक्षा होती है। यह काम सहसा नहीं हो सकता। अतएव किसी प्रतिभाशाली कवि की एक बड़ी पहचान यह है कि वह इस परिवर्तन का अनुभव करे, उसकी शक्ति का अनुमान करे और वैज्ञानिक ज्ञान का आध्यात्मिक अर्थ समझकर उसे चरितार्थ करने में सहायक हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह तात्पर्य्य निकलता है कि वह कवि जो दार्शनिक नहीं है अथवा वह दार्शनिक जो कवि नहीं है, उन दोनों ही को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए *कि जो कुछ सिद्धांत वे स्थिर करते हों और उस सिद्धांत* के लिये जो कारण वे उपस्थित करते हों, वे दोनों ही दृढ़ नींव पर स्थित हों। इसमें संदेह नहीं कि कवि को अपनी कल्पना

का प्रयोग करने में बहुत कुछ स्वतन्त्रता होती है। वह उसके द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करके हममे आनंद का उद्रेक करना चाहता है। पर ज्यो ही वह उपदेश देने में प्रवृत्त होता है, त्यों ही हमें इस बात की अपेक्षा होती है कि उसके उपदेश केवल भावना को आकृष्ट करनेवाले और मन को स्पर्श करनेवाले ही न हों, वे बुद्धि को भी संतुष्ट करें।

हिन्दी काव्य में इस प्रकार की रचना का बाहुल्य है। अन्योक्तियों को इसी प्रकार की रचना के अन्तर्गत गिनना चाहिए। उपदेश देने की इस इच्छा ने हिंदी साहित्य में इतना उत्कट रूप धारण किया है कि कवियों को प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करने में भी इस प्रवृत्ति ने अपने पथ से भ्रष्ट कर दिया है। गोस्वामी तुलसीदास जी में भी यह बात बहुत पाई जाती है। रामचरितमानस के किष्किन्धा कांड में वर्षा और शरद् का जो वर्णन दिया है, वह इन ऋतुओं का प्राकृतिक वर्णन न होकर उपदेश का भांडार हो गया है। दो ही एक उदाहरण यथेष्ट होंगे। यथा—

"दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं॥"
"छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल बौराई॥"
"उदित अगस्त्य पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहि [illegible]

उपदेश देने और प्रकृति का वर्णन करने में बड़ा अतर है। उपदेश देना बुरा नहीं, परतु प्राकृतिक वर्णन में उसी का बाहुल्य होने से उस वर्णन का उद्देश नष्ट हो जाता है। उपदेश देने और कविता में दार्शनिक बातों के लाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वहाँ कल्पना मनमाना काम न करने पावे। जो बातें दार्शनिक सिद्धात की हैं, जिनमें मनोविज्ञान आदि शास्त्रों के तत्वों का समावेश है, उनको कवि अपनी कल्पना के अनुसार, जैसा चाहे वैसा, रूप नहीं दे सकता। उन सिद्धातों को सामने रख कर उनके अनुकूल कल्पना को अपना कर्तव्य पालन करने में स्वतत्रता देना सर्वथा उपयुक्त होगा। अतएव यह बात सिद्ध हुई कि कवि-कल्पना में विज्ञान का स्थान सहायक का है, विरोधी या शत्रु का नहीं। कवि प्रत्येक प्रकार की सत्यता का उपयोग कर सकता है, यदि वह उसे सुदरता का रूप देकर कविता के गुणों से विभूषित कर सके। एक विद्वान का कथन है कि ससार में कोई ऐसा सत्य नहीं है जिसे मनुष्य जान सकता हो, पर जो कविता के रूप में उपस्थित न किया जा सकता हो, चाहे वह प्रकृति के व्यापार का कोई चित्र हो, या बुद्धि की कोई विभावना हो, या मानव-जीवन से सबध रखनेवाली कोई घटना हो, या मनोविकारों का कोई तथ्य हो, या कोई नैतिक भावना हो या आध्यात्मिक जगत् की झलक हो। इनमें से प्रत्येक विषय कविता के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि वह केवल ऐद्रिय ज्ञान का विषय न हो, या बुद्धि का एक प्रत्यय मात्र न हो जिसका मन में किसी प्रकार ग्रहण हो जाय, कितु उसे उन स्थितियों से निकलकर कल्पना के सजीव,

मूर्तिमान रूप में प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस प्रकार सजीव होकर वह मनुष्य के रागों, भावों और मनोवेगों को ही उत्तेजित नहीं करता, किंतु मनुष्य के सब भावों, इंद्रियों और अवयवों में एक अद्भुत प्रोत्साहन का संचार करता है। कवि-कल्पना में यही बात सत्यता कहलाती है जिसकी समता वैज्ञानिक सत्यता नहीं कर सकती।

कविता और प्रकृति

हम लिख चुके हैं कि कवि को किस प्रकार प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए और अपने भावों को प्रकट करते हुए कैसे उसके प्रतिकूल न जाकर उसे अपना सहायक बनाना चाहिए। अब हम यह विचार करना चाहते हैं कि कवि के मनोवेगों के साथ प्रकृति का संबंध किस प्रकार का होता है और उसे किस प्रकार प्रकृति को अपने काम में लाना चाहिए। भिन्न भिन्न कवियों में प्रकृति-दर्शन से उत्पन्न भाव भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ कवियों के लिये प्रकृति ऐसा निर्मल, सहज और स्वच्छ आनंद देनेवाली होती है जो सभी साधारण मनुष्य उसके दर्शन और संसर्ग मात्र से उठाते हैं, जैसा कि पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने "प्रियप्रवास" के आरंभ में वर्णन किया है—

"दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा॥
विपिन बीच विहंगम वृन्द का
कल निनाद विवर्धित था हुआ।

ध्वनिमयी विविधा विहगावली
उड़ रही नभमंडल मध्य थी ॥
अधिक और हुई नभ लालिमा
दश दिशा अनुरंजित हो गई ।
सकल पादप पुंज हरीतिमा
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ॥
झलकने पुलिनों पर भी लगी
गगन के तल की वह लालिमा ।
सरित औ सर के जल में पड़ी
अरुणता अति ही रमणीय थी ॥'

इस प्रकार के वर्णन में ध्यान देने की बात इतनी ही है कि कवि को प्रकृति का जैसा रूप दिखाई दे रहा है, वह वैसा ा अपनी भाषा में चित्रित करे, उसे अपने भावों और विचारों रंजित करने का ध्यान न रहे और न वह उससे किसी प्रकार . सिद्धांत या उपदेश निकालने का उद्योग करे । ऐसे वर्णन हुत कम देखने में आते हैं । इनमें आनंद का स्रोत प्रतिबिंबित ोकर नहीं उत्पन्न होता, किंतु वह सीधा, बिना किसी आधार ा आश्रय के, उत्पन्न होता है ।

दूसरे प्रकार के कवि प्रकृति से वह आनंद पाने को उत्सुक ते हैं जो उन्हें इंद्रियों द्वारा प्राप्त हो सकता है । ऐसे कवियों ा प्रकृति की ओर आध्यात्मिक या गूढ़ भावनाओं से देखने की ावश्यकता नहीं होती । उन्हें उन भावनाओं में कोई प्रयोजन हीं होता जो किसी चिंतनशील आत्मा को वस्तुओं का बाह्य प देखकर उनमें अंतर्हित भावों के विचार से उत्पन्न होती हैं । न्हें तो प्राकृतिक सुंदरता का अनुभव करने मात्र से ही आनं

मिलता है और उसे प्रदर्शित करने में ही वे अपना कर्त्तव्यपालन समझते हैं। 'प्रियप्रवास' में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने एक ऐसा ही वर्णन दिया है—

"लोनी लोनी सकल लतिका वायु में मंद डोलीं।
प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
फूलों कुंजों कुसुमित वनों क्यारियों ज्योति फैली॥"

उत्तररामचरित में लव का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

"किंचित' कोप के कारण सों
जिहि आनन ओप अनूपम सोहै।
गुंजनि मिंजनि को धनु लै
जुग छोरनि मंजु टकोरत जोहै।
चंचल पंच सिखानि किये
बरसावत सैन पै बान विमोहै।
चूहू रह्यो रन रंग महा
यह बालक बीर बतावहु को है॥"

तीसरे प्रकार के कवि वे हैं जो कविता में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग केवल उपमा या उदाहरण के रूप में करते हैं। उनकी उपमाएँ प्राय प्रकृति ही से ली जाती हैं, जैसे पद्माकर का कहना—"बिज्जु छटा सी अटा पै चढ़ी मुकटाछनि घालि कटा करती है।" इस प्रकार की कविता बहुत मिलती है। पद पद पर इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। इस संबंध में विचारने की बात केवल इतनी ही है कि कवि ने ऐसे प्राकृतिक उदाहरणों का अनुचित उपयोग तो नहीं किया है।

कविता में प्रकृति के प्रयोग का चौथा प्रकार उसे मनुष्यों, मनोवेगों या कार्यों की क्रीडास्थली की भाँति काम में लाना है। इस प्रकार किसी ऐतिहासिक घटना या चित्र को अंकित करने चित्रकार पहले घटनास्थल का एक स्थूल चित्र अंकित करके उसमें मुख्य घटना को चित्रित करता है, उसी प्रकार कवि मनुष्य के क्रिया कलापों का वर्णन करने के पूर्व उसके क्रियाक्षेत्र के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करता है। इसके लिये कभी कवि किसी स्थान का और कभी किसी समय का वर्णन करता है, और इसके अनंतर वह अपने मुख्य विषय पर आकर अपनी कविता के उद्देश की ओर अग्रसर होता है। विशेषत कथानक के लिखने में प्रकृति का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात यही है कि प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में मस्त होकर कवि कहीं अपने मुख्य विषय को न भूल जाय और उस दृश्य के वर्णन को आवश्यकता से अधिक विस्तृत न कर दे या उसे कोई तुच्छ स्थान न दे दे।

प्रकृति के प्रयोग का पाँचवाँ प्रकार वह है जिसमें केवल प्राकृतिक दृश्य का वर्णन ही मुख्य विषय होता है। इसमें वह सहायक या साधक का स्थान न ग्रहण करके स्वयं मुख्य या प्रधान स्थान ग्रहण करता है और उसमें मनुष्य आदि का वर्णन केवल प्रकृति के चित्र को पूर्ण करने के लिये दिया जाता है। ऐसे प्राकृतिक वर्णनों में ऋतुओं का वर्णन या किसी वनस्थली आदि का वर्णन गिनाया जा सकता है। हिंदी में षट् ऋतुओं के वर्णन बहुत अधिक हैं, परंतु उनमें ऋतुओं का वर्णन करने की अपेक्षा नायक या नायिका के भावों को प्रदर्शित करने का ही

विशेष उद्योग किया गया है, प्रकृति की छटा प्रदर्शित करने
ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है ।

इनके अतिरिक्त कवि की प्रकृति का वर्णन बहुत कुछ वृत्तियों, भावनाओं या विचारो पर निर्भर रहता है। कहीं वह उसमें ईश्वर के अनिवार्य नियमो का अनुभव करता है, वह उसमे क्रूरता, असहिष्णुता, कठोरता आदि के प्रत्यक्ष करता है और कहीं उसमें सहानुभूति, सहकारिता और त्मिकता के तत्वो का साक्षात् रूप देखता है। प्रकृति की ये भिन्न भावनाएँ और रूप कवि के स्वभाव के आश्रित रहते हैं सारांश यह कि वह प्रकृति में अपने स्वभाव का प्रतिबिंब ढूँढ़ता है और उसे उसी रूप मे देखकर अपने मनोनुकूल उसका वर्णन करता है ।

अतएव यह सिद्धांत निकलता है कि कविता में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह इंद्रियगोचर सौंदर्य, मानवी जगत के अनुभव तथा प्रकृति के नाना रूपों के आध्यात्मिक भाव को हमारे सामने उपस्थित करती है। कविता के अभाव में हम इस अनुभूति से वंचित रह जाते हैं। हम सासारिक व्यापारो मे इतने व्यग्र रहते हैं कि कविता की इस शक्ति के संपादन में असमर्थ होते है। सच्चा कवि वही है जिसमें वस्तुओं के इंद्रिय-गोचर सौंदर्य और उनके आध्यात्मिक भाव को समझने और अनुभव करने की पूर्ण शक्ति हो और जो कुछ वह देखता या अनुभव करता हो, उसे इस प्रकार से व्यक्त करे जिससे हमारी कल्पनाएँ और भावनाएँ भी उत्तेजित होकर हमें उसी की भाँति देखने, समझने और अनुभव करने

कविता की व्यंजन शक्ति

मर्थ कर दे। अतएव कवि हमें कुछ काल के लिये सासारिक ापारों की व्यग्रता से निवृत्त करके हमारा ध्यान जगत की न्दरता और मनोहरता की ओर आकृष्ट करता है और मारे सामने एक ऐसी निधि रख देता है जिसे हम नित्य प्रति ो झंझटों तथा सासारिक स्वार्थसाधन के व्यवसायों म मग्न हने के कारण आँखों के रहते भी देखने में, कानों के रहते भी ुनने में और हृदय के रहते भी अनुभव करने मे असमर्थ होते । कवि ईश्वरीय सृष्टि का रहस्य समझने मे समर्थ होता है। कसी सुन्दर और रमणीय स्थान को हम देखते हैं और आगे बढ़ ाते हैं। एक बेर नहीं अनेक बेर ऐसा होता है। पर चित्रकार ी आँखें उसकी सुन्दरता को चट ताड लेती हैं और वह उसे चित्रित कर देता है। उस चित्र को देखकर हमारा ध्यान भी उस दृश्य की ओर आकृष्ट होता है और हम उसकी सुन्दरता का अनुभव करने मे समर्थ होते हैं। इसी प्रकार कवि भी ससार की वस्तुओं की मनोहरता और सुन्दरता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उनका आध्यात्मिक भाव समझकर हमें उनका ज्ञान अपनी मनोहारिणी और ललित भाषा मे कराता है। तब हम भी उसकी सुन्दरता और मनोहरता समझने लगते हैं और उसके आध्यात्मिक भाव की ओर आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार कवि हमें केवल वस्तुओं की सुन्दरता का ही भाव प्रदान नहीं करता, बल्कि हमें इस योग्य बना देता है कि हम कवि की दिव्य दृष्टि की सहायता से जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को देख और समझ सकें तथा कवि की अलौकिक शक्ति का स्वय अनुभव कर सकें।

इस प्रकार कविता हमारे जीवन की भिन्न भिन्न -
से सम्बन्ध स्थापित करती है और अपनी क्रीडा के लिये
विषयों को चुन लेती है, जो सुगमता से
अपना कर्तव्य पालन करने में सहायता देते हैं
इस विचार से प्रत्येक प्रकार की कविता,

कवियों के महत्त्व का आदर्श

तक कि तुच्छ से तुच्छ विषयों पर भी की गई कविता, जिसे
अपनी शक्ति से मनोहारिणी बना देता है, अपने भाव को
तार्थ करती और अपना महत्त्व प्रदर्शित करती है। परन्तु
कविता कल्पनाओं और मनोवेगों के रूप में जीवन की
है, तो उसके महत्व वास्तविक की कसौटी उस शक्ति का महत्व
जो वह जीवन के महत्वपूर्ण और स्थायी विषयों के वर्णन में
वस्तुओं के वर्णन में जिनका सम्बन्ध हमारे विशेष अनुभव
अनुराग-विराग से होता है—प्रदर्शित करती है। कविता भी
कला है, अतएव उसकी परीक्षा भी उस कला के नैपुण्य
उपकार से ही होनी चाहिए। साथ ही यह बात भी ध्यान
रखनी चाहिए कि काव्य-कला आत्मा की बाह्य मूर्ति है। वह विचारों
और भावों की वाहक है, और जितना ही वह आत्मा के विचारों
और भावों को प्रकट करती है, उतना ही उसका महत्व बढ़ता है।
इसका यह आशय नहीं कि कविता का उद्देश केवल आनन्द का
उद्रेक करना है। यह तो सभी कलाओं का उद्देश है, और कविता
इसका अपवाद नहीं। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि
उस आनन्द की मात्रा विषय की उपयुक्तता और उसके प्रतिपादन
की रीति पर आश्रित रहती है। कुछ लोग कह बैठते हैं कि किसी
कला का आदर इसलिये होना चाहिए कि वह एक कला है, इस

ये नहीं कि वह आनंद का उद्रेक करने में समर्थ होती है।
ने सिद्धांत का प्रतिपादन वही लोग करते हैं जिनमें कला
कौशल का नैपुण्य नाम मात्र को ही होता है, या होता ही नहीं।
ड़े बड़े कवियों ने इस सिद्धांत को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा
है। उन लोगों का तो यही कहना है कि कविता जीवन से,
जीवन की ओर जीवन के लिये है। इसी भाव को लेकर उन्होंने
कविता की है। जीवन का भाव समझने और उसकी व्याख्या
करने में जिस शक्ति का परिचय वे दे सके हैं, उसी के अनुसार
उनका महत्व स्थापित हुआ है। आर्नल्ड का कहना है कि कविता
सचमुच जीवन की आलोचना है, और कवि का महत्व इसी में
है कि वह अपने उच्च विचारों का प्रयोग जीवन-व्यवहार में इस
प्रकार करे कि वह सौंदर्य का अनुभव कराके प्रभाव उत्पन्न करने
में समर्थ हो। सदाचार और नीति की बातें धर्म-सम्प्रदायों,
मत-मतांतरों तथा भिन्न भिन्न पंथों आदि के हाथ में पड़ जाने से
प्रायः संकुचित और नीरस हो जाती हैं। कभी कभी उनका
विरोध करने या उनकी उपेक्षा करने में भी कविता चरितार्थ
होती है। कविता द्वारा प्रदर्शित होने पर उन बातों के प्रतिपादित
विषय का ध्यान न करके उनके रूप सौष्ठव और उनकी मनोहा-
रिता पर ही हम मुग्ध हो जाते हैं। सदाचार और नीति के
विरोध, तथा उनकी उपेक्षा या उनके अभाव से कविता की अग-
श्रेष्ठ नहीं हो सकती, क्योंकि सदाचार और नीति की बातें जीवन
से भिन्न नहीं हो सकतीं। उनका विरोध करना जीवन का विरोध
करना है, उनकी उपेक्षा करना जीवन की उपेक्षा करना है और
उनके अभाव से संतुष्ट होना जीवन को नीरस देना है। अतएव

हमें यह मानने में संकोच न करना चाहिए कि कवि का उसके प्रतिपाद्य विषय, उसके धर्म-भाव और उसके प्रभाव अवलंबित रहता है। कोई मनुष्य तब तक श्रेष्ठ कवि नहीं सकता, जब तक वह अच्छा तत्त्वदर्शी भी न हो। पर तात्पर्य यह नहीं है कि प्रतिभाशाली कवि के लिये यह आवश्य है कि वह अपने धर्मभाव को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करे, नीति सदाचार के उपदेश देने का उद्देश अपने सम्मुख रखकर करने बैठे। यह कार्य तो किसी उपदेशक या धार्मिक नेता है। कवि का काम शिक्षा देना और पथप्रदर्शक होना नहीं है। उसका काम तो उत्तेजित करना, सजीव करना, उच्छ्वसित करना, शक्तिसंपन्न करना और प्रसन्न करना है। कविता के सम्बन्ध इन बातों को कदापि न भूलना चाहिए। तात्त्विक सिद्धांतों नींव पर कविता का प्रासाद खडा करना त्याज्य नहीं है। केवल इस बात का रहना चाहिए कि ऐसा करने में कविता अपने गुणों से विहीन न हो जाय, अपनी सुन्दरता, अपनी मनो हरता न खो बैठे। भले ही उपदेश दिया जाय, सदाचार की बातें कही जायँ, नीति का भाव हृदय-पटल पर जमाया जाय, पर कविता की सुन्दरता और मनोहारिता का नाश करके सब न किया जाय, नहीं तो कविता कविता न रह जायगी, उपदेश मात्र रह जायँगे। दार्शनिक भले ही अपने दर्शन की बातें कहे, पर कल्पना और मनोवेगों के रूप में कहे, सुन्दरतापूर्वक कहे, मनोहारिणी उक्तियों के भीतर भरकर कहे, सारांश यह कि कविता के रूप में कहे।

अतएव यह सिद्धांत निकलता है कि कवि का महत्व, उस

विषय की महत्ता का, उसके विचारों की गहनता का, उसकी नैतिक शक्ति का और उसकी प्रभावोत्पादकता का आश्रित है। कविता का विचार करने के लिये हमें कवि पर, उसके व्यक्तित्व पर, उसके सांसारिक अवेक्षण पर, उसकी जीवन की व्याख्या पर, उसकी विशेषता पर विचार करना चाहिए। उसकी कविता के सौंदर्य और उसकी काव्य कला की कुशलता पर हम चाहे कितने ही मुग्ध क्यों न हों, पर हमें कविता के सिद्धांत संबंधी इन विचारों की अवहेलना न करनी चाहिए।

कविता के विभाग

कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं— एक तो वह जिसमें कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ निकालता है, और दूसरा वह जिसमें वह अपनी अंतरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूँढ निकालता है, उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक या व्यक्ति संबंधिनी कविता अथवा आत्माभिव्यंजन या आत्म-चित्रण संबंधिनी कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को हम बाह्य विषयात्मक कविता कह सकते हैं। यद्यपि इन दोनों विभागों की ठीक ठीक सीमा निर्धारित करना कठिन है, फिर भी विवेचन करने के लिये किसी प्रकार का विभाग करना आवश्यक है, और इससे अच्छा विभाग होना कठिन है।

भावात्मक कविता में विशेषता यह होती है कि कवि अपने भावों के अभिव्यंजन में लगा रहता है। प्राय देखने में आया है कि कवियों ने अपने भावों के अभिव्यंजन से तात्पर्य मानव

जाति के भावों के अभिव्यञ्जन से लिया है। इस विचार से ऐसी कविता पढ़नेवाले के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि कवि जिन भावनाओं और अनुभवों का वर्णन कर रहा है, वे उस कवि के ही नहीं हैं, किंतु उसके उद्गार पढ़नेवाले के भी हैं। ऐसी भावात्मक कविता मे मानवी प्रवृत्तियो की प्रचुरता रहती है। हमें इस सम्बन्ध में केवल यह विचार करना चाहिए कि जिन भावों से प्रेरित होकर कवि ने रचना की है, वे भाव कैसे हैं और उनको उसने किस प्रकार व्यंजित किया है। यदि कविता हमारे मन में यह भाव उत्पन्न कर सके कि उच्च भावनाओं का व्यंजन स्पष्टता और स्वाभाविकतापूर्वक किया गया है तथा उसकी भाषा और कल्पना में सुन्दरता और विशदता है, तो हम कहेंगे कि वह फलीभूत हुई। ऐसी कविता साधारण भाव-व्यंजना के आगे बढ़कर क्रमश. ऐसे चिंतन का रूप धारण करती है जिसमे विचारों की बहुलता रहती है। ऐसी कविता मे भावना की उच्चता, भाषा तथा कल्पना की सुन्दरता, स्पष्टता और विशदता के साथ ही साथ हमें इस बात का भी विचार करना पड़ता है कि वे विचार कैसे हैं और कवि उन्हें कवितामय बनाने में कहाँ तक समर्थ हुआ है। शृंगार, नीति, स्तुति, निंदा आदि की फुटकर कविताएँ इसी के अंतर्गत हैं।

बाह्य विषयात्मक कविता की विशेषता यह है कि उसका कवि के विचारो और भावनाओ से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उसका विषय सांसारिक भाव और कार्य होते हैं। भावात्मक कविता मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कवि अपना अंतरात्मा मे प्रवेश करता है और बाहरी जगत को अपने अंत करण में ले जाकर अपने भावों मे रंजित करता है। पर बाह्य

विषयात्मक कविता मे वह आप बाहरी जगत मे जा मिलता है और वहाँ से प्रेरित होकर अपनी कविता का विषय ढूँढता है। फिर वह उसे अपनी कला का उपादान बनाता है और अपनी अंतरात्मा को जहाँ तक हो सकता है, उससे अलग रखता है। अपनी अंतरात्मा को अलग रखने से हमारा तात्पर्य केवल यही है कि वह अपनी कविता-सृष्टि में अपने आपको उसी प्रकार छिपाए रहता है, जिस प्रकार जगन्नियता जगदीश्वर इस जगत में अपने आपको अदृश्य रखता है। उसका अनुभव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप मे होता है। बाह्यविषयात्मक कविता में कवि अंतर्हित रहता है, पर भावात्मक कविता मे वह प्रत्यक्ष हो जाता है।

हमारे यहाँ इस प्रकार की कविता के दो विभाग किए गए हैं—एक श्रव्य और दूसरा दृश्य। जिस कथा या कहानी आदि के सुनने से आनंद का उद्रेक होता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। उसमें कवि स्वय वक्ता बनकर अपनी प्रतिपाद्य कथा कह चलता है। दृश्य काव्य वह है जिसमें कवि स्वय कुछ नहीं कहता, जो कुछ उसे कहना होता है, उसे वह उस कथा के पात्रों से कहलाता है। पहले प्रकार की कविता के उदाहरण रासो, पद्मावती, रामायण-आदि हैं, और दूसरे प्रकार की कविता में रूपकों की गिनती की जाती है जिन्हें साधारण बोलचाल में नाटक कहते हैं। इन दोनों प्रकार की कविताएँ बाह्य विषयात्मक कविता के अंतर्गत मानी जाती हैं।

अनादि काल से सभी जातियों में भिन्न भिन्न घटनाओं को लेकर गीत बनाए और गाए जाते है। हमारे यहाँ इसका सब से

अच्छा उदाहरण आल्हा है, जिसमें आल्हा और ऊदल की कथा का वर्णन है। ऐसी गीतात्मक कथा-कहानियों में यह विशेषता होती है कि नायक के बल, वीरता, युद्ध-कौशल आदि का ऐसा वर्णन होता है जिसमें अलौकिकता की मात्रा अधिक रहती है। ऐसी कविता में पद पद पर प्रेम, घृणा, दया आदि साधारण भावनाओं का प्रभाव देख पड़ता है। कवि को जो कुछ कहना होता है, उसे वह चटपट कह डालता है, घुमाव फिराव में वह नहीं उलझता। कहीं कहीं तो वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का भी वर्णन करता है, पर बड़े बड़े वर्णनों या प्राकृतिक दृश्यों का चित्र खींचने में ही वह अपना समय प्रायः नहीं लगाता। उसका मुख्य उद्देश उत्तेजक भाषा में नायक की कृतियों का वर्णन करना रहता है। ऐसे गीतात्मक काव्यों में जब किसी ऐसे वीर पुरुष की चरितावली का वर्णन होता है, जिसकी पूजा समस्त जाति करती है और जिसका चरित उस जाति की पौराणिकता का विशेष अंग हो जाता है, तब वे वीर-काव्य या महाकाव्य कहलाते हैं। फिर उनमें गीतात्मकता का भाव शेष नहीं रह जाता, वे एक प्रकार से कवि की विद्वत्ता और निपुणता के आदर्श होते हैं। रामायण और महाभारत इस प्रकार की कविता के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

इस प्रकार बाह्य विषयात्मक कविता चार मुख्य उपभागों में विभक्त की जा सकती है—छंदोबद्ध आख्यान, रूपक, गीतात्मक काव्य और महाकाव्य। इनमें से रूपकों के विषय में आगे चल कर विशेष रूप से लिखा जायगा।

कविता की अंतरात्मा का विवेचन यहाँ समाप्त होता है।

उसके वाह्य रूप के साधनों के विषय मे हम आगे चलकर विशेष रूप से लिखेंगे और छद, वृत्ति, रीति, अलकार आदि का भी विवेचन करेंगे। यहाँ हम केवल इतना कह देना चाहते हैं कि हमारी भारतीय कविता मे विशेष रूप से रसों के सचार का उद्देश हो सब कवियो के सामने रहा है और इसी के परिपाक से कविता का महत्व स्थापित किया गया है। इस सबध में कवियों को इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी रस का इतनी अधिक मात्रा में सचार न हो कि पढनेवाले का मन उससे ऊब जाय, घवरा जाय या उद्विग्न हो उठे। सुचारु रूप से इसका प्रयोग वाञ्छनीय है जिसमें वह वास्तव में अलौकिक आनद का उद्रेक कर सके। इस सबध मे विशेष ध्यान करुण और हास्य रस का रखना चाहिए। करुणा की मात्रा इतनी अधिक न होनी चाहिए कि वह मन को विह्वल कर दे, और हास्य ऐसा न होना चाहिए जो अशिष्ट या अश्लील जान पड़े।

पाँचवाँ अध्याय

गद्य-काव्य का विवेचन

गद्य-काव्य के अंतर्गत उपन्यास, कथा कहानियाँ और निबंध विशेष रूप से आते हैं, अतएव इस अध्याय में हम इन्हीं के विषय में विचार करेंगे।

हम पहले लिख चुके हैं कि मनुष्य एक ओर तो अपने भावों या विचारों को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरी ओर अन्य मनुष्यों के जीवन, उनके कार्य, उनकी भावनाओं, उनके राग-द्वेष, उनके सांसारिक बंधन आदि के जानने और समझने में एक प्रकार का अनुराग रखता है।

नाटक और उपन्यास

यह भी एक मनोवृत्ति का परिणाम है जिसे हम मानव व्यापार की अनुरक्ति कह सकते हैं। इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर ऐसे काव्यों की रचना होती है जिनका उद्देश मनुष्यों का चरित्र-चित्रण होता है। इन्हीं प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर भिन्न भिन्न प्रकार के काव्यों, जैसे वीर काव्य, गीति काव्य, उपन्यास आदि की उत्पत्ति, सामाजिक तथा कलात्मक स्थिति के परिवर्तन-शील रूपों के अनुसार, होती है। नाटक और उपन्यास में बड़ा भारी भेद यह है कि नाटक का रूप रंगशाला के प्रतिबंधों के अनुसार बहुत कुछ स्थिर करना पड़ता है, अर्थात् वह नाट्य और काव्य-कला का एक प्रकार का मिश्रण है। पर उपन्यास में ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है। वह इस प्रकार के प्रति-

बधों से स्वतत्र रहता है। उसकी रगशाला उसी में रहती है। उसके भाव तथा उसकी वस्तु तो उसमें रहती ही है, साथ ही वेष-भूषा, दृश्य-पट और नाट्यकला के अन्य उपचार भी उसी के अतर्गत होते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि नाटक जिन नियमों से जकड़े रहते हैं, उनसे उपन्यास पूर्णतया स्वतत्र हैं। परतु नाटक के दृश्य काव्य होने से उसमें जो सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है, वह उपन्यास में नहीं हो सकती। दृश्य तथा श्रव्य काव्य का अतर इन्हीं दोनों—नाटक और उपन्यास—मे स्पष्ट हो जाता है। अतएव उपन्यास मे, उसके दृश्य काव्य न होने के कारण, जो सजीवता और प्रत्यक्षानुभव का अभाव रहता है, उसे वह नाट्य-कला के नियमों से स्वतत्र होने के कारण अन्य उपायों से पूरा कर लेता है। इस विचार से हम यह भी कह सकते हैं कि नाटक काव्य-कला का कष्टसाध्य और उपन्यास सरल रूप है। कुछ लोगों का तो कहना है कि नाटक लिखने के पहले उस कला मे पूर्णतया अभिज्ञ होना तथा रगशाला की आवश्यकताओ और उसके प्रतिबधों का भली भाँति जानना आवश्यक है, परतु उपन्यास के लिये इन बातों की आवश्यकता नहीं। उसके लिये तो कलम, दवात, कागज, कुछ अवकाश और थोड़े से धैर्य की ही आवश्यकता है। इस कथन में चाहे उपन्यास की अपेक्षा नाटक को अधिक महत्व दिया गया हो, परतु इसमे सदेह नहीं कि नाटकों के सबध मे विवेचन का आदर्श स्थिर करना उतना कठिन नहीं है जितना उपन्यासों के विषय में है। फिर भी विवेचन करके उपन्यासों के सबध में हम कुछ नियम निर्धारित कर सकते हैं।

पहले तो उपन्यासों का संबंध घटनाओं और व्यापारों से, अर्थात् उन बातों से होता है जो सहन या संपादित की जाती हैं। इन्हीं को हम "उपन्यास-वस्तु" कहते हैं। दूसरे ये घटनाएँ और व्यापार मनुष्यों के आश्रित होते हैं, अर्थात् उन बातों को सहने या करनेवाले मनुष्य होते हैं जो व्यापार की श्रृंखला को स्थिर रखते हैं। इन्हें "पात्र" कहते हैं। इन पात्रों का आपस में वार्तालाप तीसरा तत्व है जिसे "कथोपकथन" कहते हैं और जिसका चरित्र चित्रण से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। ये सब व्यापार या घटनाएँ किसी समय या स्थान में होनी चाहिएँ, जहाँ और जिसमें पात्रों को अपना कार्य करना तथा सुख-दुःख भोगना पड़ता है। इसे "देशकाल" कहते हैं। यह चौथा तत्व है। पाँचवाँ तत्व "शैली" और छठा "उद्देश" है। प्रत्येक उपन्यास में लेखक को जीवन संबंधी अपने विचारों को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करना पड़ता है। इसके निमित्त उसे अपने विचारों के अनुसार घटनाओं का क्रम, स्थापन, पात्रों के राग-भाव आदि का प्रदर्शन तथा वस्तु निर्देश इस प्रकार से करना पड़ता है जिसमें वह अपने सांसारिक भावों और जीवन के लक्ष्य को प्रकट कर सके। अतएव उपन्यास के छः तत्व होते हैं। यथा—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश। इनमें से शैली को छोड़कर हम शेष पाँचों तत्वों पर क्रमशः विचार करेंगे। "शैली" को हम इसलिये छोड़ देते हैं कि, एक तो हम इसका स्वतंत्र विवेचन आगे करेंगे, और दूसरे यह तत्व सब प्रकार के काव्यों में वर्तमान रहता है। गद्य-काव्य में इसके लिये कोई विशेष स्थान नहीं है।

उपन्यास के तत्व

[वस्तु] वस्तु-तत्व का विचार आरभ करते ही हमे यह जानने की आवश्यकता होती है कि किस उपन्यास की सामग्री कहाँ से ली गई है, अर्थात् जीवन की व्याख्या करने मे उसके किन किन उपादानो का उपयोग हुआ है। सासारिक जीवन अनेक अवस्थाओं मे विभक्त है। राजा महाराज से लेकर साधारण से साधारण व्यक्ति तक अपना जीवन निर्वाह करते हैं। यद्यपि उनमे अवस्था के अनुसार अनेक बातो मे भेद रहता है, पर ससार मे मनुष्य मात्र एक ही प्रकार के रागों, भावनाओं और विचारों आदि से प्रेरित होता है। उन्हे एक ही प्रकार का कहने से हमारा तात्पर्य यही है कि मनुष्य मात्र मे सुख-दुख, स्नेह-घृणा, दया क्रूरता, ईर्ष्या द्वेष आदि के भाव और जीवन के साधारण प्रश्न जैसे दरिद्रता, सपन्नता, स्वास्थ्य, रोग, मित्रता, शत्रुता आदि की अवस्थाएँ समय समय पर उपस्थित होती रहती हैं और अपना अपना प्रभाव दिखाकर जीवन को सुखमय या दुःखमय बनाती अथवा उसमें उलट-फेर करती है। अतएव हमे पहले यह विचार करना पड़ता है कि किसी उपन्यास में जीवन की किस अवस्था का चित्र खींचा गया है और उसमें किन किन उपादानों का उपयोग किया गया है। साधारणत देखने की बात यह होती है कि कहीं उसमे जीवन की साधारण और तुच्छ बातों की ओर तो विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, और ऐसी बातों की उपेक्षा तो नहीं की गई है जो मानव-जीवन मे सर्वथा और सर्वदा व्याप्त रहती हैं और जिन्हे हम जीवन का मूल भाव कह सकते हैं। काव्य को हम जीवन की व्याख्या कह चुके हैं। अतएव किसी अच्छे उपन्यास की महत्ता इसी में होती है कि

प्रकार चलता था, शासन कैसे होता था, महलों में क्या व्य
थीं तथा उस समय की राजनीतिक स्थिति कैसी थी। इन
को जाने बिना मौर्य-काल, गुप्त काल या मुगल-काल की घ
पर उपन्यास लिखने का साहस करना अपनी मूर्खता प्रकट क
हुए एक ऐसा चित्र उपस्थित करना है जो वास्तविकता से को
दूर होगा और जिसके कारण मिथ्या ज्ञान का प्रचार बढ़ेगा।
आचार्यों का कहना है कि जिस विषय का स्वयं अनुभव न क
लिया गया हो, उस पर कुछ कहना या लिखना उ
नहीं। यदि आप समुद्र में आँधी आने और जहाज के टूटने का
वर्णन करना चाहते हो, तो यह आवश्यक है कि किसी ऐसी
घटना का आपने स्वयं अनुभव किया हो। अथवा यदि आ
मद्यरुचियों और शराबियों के विषय में कुछ लिखना चाहते हों,
तो पहले उनके व्यवहारों, विचारों और रहन-सहन का अनुभव
प्राप्त कर लें, तब कुछ लिखें। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता
है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुभव अनेक प्रकार से
प्राप्त हो सकता है। हम किसी बात का स्वयं अनुभव प्राप्त कर
सकते हैं, या पुस्तकों को पढ़कर अथवा ऐसे लोगों से बातचीत
करके भी यह अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, जिन्हें स्वयं ऐसा करने
का अवसर प्राप्त हुआ हो। अनुभव प्राप्त करने की इस प्रकृति के
साथ ही साथ लेखक की प्रतिभा भी इस कोटि की होनी चाहिए
कि जितने उपाय उसको उपलब्ध हो सके, उन सब से अपना
अनुभव-भाडार भरकर वह अपनी कल्पना शक्ति से ऐसा जीता
जागता चित्र उपस्थित करे, जो वास्तविकता के रंग से पूरा पूरा
रँगा हुआ ज्ञात हो। अतएव यह आवश्यक है कि उपन्यास-

लेखक मनुष्यों और वस्तुओ का, जितना अधिक सभव हो, अनुभव प्राप्त करे और अपने उद्देश की सिद्धि मे उसका उपयोग करे। इस प्रकार जब लेखक की कल्पना शक्ति अनुभव का सहारा लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होगी, तब उसे अवश्य ही पूरी पूरी सफलता प्राप्त होगी।

उपन्यास की वस्तु के सबध मे विचारने योग्य पहली बात यह है कि क्या उसकी कहानी चित्ताकर्षक और कहने योग्य है और क्या वह भली भाँति कही गई है। इसका तात्पर्य यही है कि यदि हम उसकी भली भाँति जाँच करे तो उससे इन प्रश्नों का यथोचित उत्तर मिल सके—

(१) उसमे कहीं कोई बात छूटी हुई तो नहीं जान पडती, अथवा उसमे परस्पर विरोधी बातें तो नहीं कही गई हैं ?

(२) क्या उसके सब अगों में परस्पर साम्य और समीचीनता है ? ऐसा तो नही है कि किसी ऐसी घटना के वर्णन मे कई पृष्ठ रँग डाले गए हो जिसका कथावस्तु से कोई स्पष्ट सबध न देख पडता हो अथवा किसी पात्र का कथन या भूमिका बहुत लबी चौड़ी कर दी गई हो, परतु कुछ आगे बढते ही वह भूमिका बहुत ही तुच्छ या सामान्य हो जाती हो ?

(३) क्या उसमे वर्णित घटनाएँ आपसे आप अपने मूल आधार से या एक दूसरी से निकलती चली आती हैं ?

(४) क्या साधारण से साधारण बातों पर लेखक की लेखनी चलकर उन्हे असाधारण बनाने में समर्थ हुई है ?

(५) क्या घटनाओं का क्रम ऐसा रखा गया है जिसमें

वे हमको अलौकिक, असगत और अस्वाभाविक न जान पड़ता हो, चाहे वे घटनाएँ कितनी ही असाधारण क्यों न हों ?

(६) क्या उसका अत या परिणाम वर्णित घटनाओं के अनुकूल है और क्या कथा या वस्तु का समाहार पूर्वापर विचार से ठीक ठीक हुआ है ?

यदि इन प्रश्नों का सतोषजनक उत्तर मिल सके, तो समझना चाहिए कि उपन्यास मे वस्तु का विन्यास भली भाँति किया गया है। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि वर्णन शक्ति का सपादन भी उपेक्षा योग्य नहीं है। कोई कहानी कहने में भी कौशल की आवश्यकता होती है, और यह कौशल किसी व्यक्ति की विद्वत्ता या बुद्धिमत्ता से भिन्न है। विद्वान् या बुद्धिमान् होने ही से यह कौशल स्वत नहीं आ जाता। इस कौशल के सबध मे इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कष्ट कल्पना या अस्वाभाविकता तो नहीं है और क्या सुननेवाले का मन उसकी ओर सहज ही आकृष्ट हो जाता है। यदि किसी कहानी के कहने मे सुगमता, स्वाभाविकता और मनोमुग्धकारिता स्पष्ट देख पड़े, तो समझ लेना चाहिए कि कहानी कहनेवाले मे अपने व्यापार का जैसा कौशल चाहिए, वैसा है। यदि उसमे ये गुण न हों, तो उसे इनके उपार्जन की ओर दत्तचित्त होना चाहिए।

वस्तु-विन्यास के विचार से उपन्यासों के दो भेद माने जाते हैं। एक तो वे जिनमे भिन्न भिन्न घटनाओं का एक प्रकार से असबद्ध वर्णन रहता है। वे घटनाएँ एक दूसरी पर आश्रित नहीं रहतीं और न दूसरी घटना पहली घटना का आवश्यक या

(अ)निवार्य परिणाम होती है। इन घटना-समूहों को एक सूत्र में (बाँ)धनेवाला उस उपन्यास का नायक होता है, और उसी के विशिष्ट (च)रित्रों को लेकर उपन्यास के भिन्न भिन्न अवयवों का ढाँचा (ख)डा किया जाता है। ऐसे उपन्यासों की वस्तु को असबद्ध या (शि)थिल कथनात्मक कहा गया है। दूसरे प्रकार के उपन्यास वे (हो)ते हैं जिनमे घटनाएँ एक दूसरी से इस प्रकार सबद्ध रहती हैं (कि) वे साधारणत अलग नहीं की जा सकतीं, और सब अतिम (प)रिणाम या उपसहार की ओर अग्रसर होती हुई उस उपन्यास (क)ो एक ऐसा रूप दे देती हैं, जिसमे उसके भिन्न भिन्न अग या (अ)वयव एक दूसरे से मिले हुए रहते हैं और उनको अलग अलग (क)रने मे सब की महत्ता नष्ट हो जाती है। ऐसे उपन्यास एक (व्या)पक विधान के अनुसार बनाए जाते है और उनकी सार्थकता (घ)टना-समूहो पर निर्भर रहती है। ऐसे उपन्यासो की वस्तु को (स)बद्ध घटनात्मक कहते हैं। इस बात का निर्णय करना कठिन है (कि) इन दोनों प्रकार के उपन्यासों में कौन अच्छा है। हम यह बात (प)हले कह चुके हैं कि उपन्यासों मे सुगमता, स्वाभाविकता और (म)नोमुग्धकारिता के गुणों का रहना आवश्यक है। घटनाएँ सबद्ध (हो)ं या असबद्ध हो, परतु यदि किसी उपन्यास में इन तीनो गुणों (क)ा समावेश कुशलतापूर्वक किया गया हो, तो उस उपन्यास को (स)ार्थक मानकर उसकी उत्तमता का स्वीकार करना चाहिए। (क)दाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि सम्बद्धता और अ-(स)म्बद्धता दोनो मे से अति की मात्रा को यत्नपूर्वक बचाना चाहिए। (स)म्बद्धता भी इतनी न हो कि उपन्यास में कष्ट-कल्पना का दोष (आ) जाय और स्वाभाविकता नाम मात्र को रह जाय। असबद्धता

८

भी इतनी न होनी चाहिए कि किसी उपन्यास के भिन्न भि
परिच्छेद अलग अलग कथाएँ जान पड़ें। किसी किसी
में दो कथाओं का समावेश भी कर दिया जाता है। यदि
हो, तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दोनों कथाएँ
में ऐसी मिल जायँ कि वे अलग न जान पड़ें। उनका दूध
चीनी का सा सम्मिश्रण होना आवश्यक और वाञ्छनीय है।

उपन्यासों की कथा कहने के तीन ढग है। पहले में
उपन्यासकार इतिहासकार का स्थान ग्रहण करके और
कथा से अपने को अलग रखकर अपने वस्तु-विधान का
उद्घाटन करता हुआ पढनेवालों को अपने साथ लिए हुए
परिणाम तक पहुँचाकर अपना अभिप्रेत प्रभाव उत्पन्न करता
दूसरे ढग में उपन्यासकार नायक का आत्मचरित उसके मुँह
अथवा कभी कभी किसी उपपात्र या गौण पात्र के मुँह से
लाता है। तीसरा ढग वह है जिसमें प्राय चिट्ठियों
द्वारा कथा का उद्घाटन किया जाता है। तीसरा ढग बहुत
और पहला ढग बहुत अधिक काम में लाया जाता है। पह
ढग का अनुसरण करने मे ग्रन्थकार को अपना कौशल दि
का पूरा पूरा अवसर मिलता है। दूसरे और तीसरे ढग
अनुसरण करने मे उसे कई कठिनाइयों का सामना करना
है। इनमें से सब से बडी कठिनाई यह है कि वह अपनी
सामग्री का यथोचित उपयोग नहीं कर सकता।

वस्तु-विन्यास के अनंतर जब हम किसी उपन्यास के
के विषय में विचार करते हैं, तब पहला प्रश्न जो स्वभावत
स्थित होता है, वह यह है कि क्या ग्रन्थकार अपने पात्र

पात्र

मारे सम्मुख वास्तविकता के परिधान से वेष्टित करने में सफल हुआ है? क्या हम उन्हे वैसा ही समझते और मानते हैं? क्या उनके साथ हमारी सहानुभूति वैसी ही है? क्या हम उनसे वैसा ही स्नेह या घृणा करते हैं, जैसा म ससार के अन्य जाने बूझे लोगों से करते हैं? यदि ये मनो-ाग हमारे मन में उदित हो सकें, तो समझना चाहिए कि ग्रन्थ-कार अपने उद्योग में सफल हुआ। इसके विपरीत यदि हमने न पात्रो को सासारिक जीवों से भिन्न जानकर उनका निवास एक भिन्न लोक ही मे मान लिया और उनकी शारीरिक, मानसिक था आध्यात्मिक शक्तियों को अलौकिक कर लिया, तो इस बात कोई सदेह नहीं रहा कि ग्रन्थकार मानव-जीवन की व्याख्या करने में विफल प्रयास हुआ। ग्रन्थकार चाहे अपने साधारण नुभव का उपयोग करे, चाहे अपने असाधारण अनुभव की रीक्षा करे, उसके पात्रों को सजीव स्त्री पुरुषों की भाँति अपनी ूमिका सपादित करनी चाहिए और अपनी मानवी स्थिति का ाव हमारे मन पर अकित कर देना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि उपन्यासों को पढकर क्यों म उनके पात्रों को अपने समान सजीव पुरुष या स्त्री मान ठते हैं और उनसे मनुष्योचित आचरण करने को उद्यत हो ाते हैं। यह विषय मनोविज्ञान का है, अतएव हमारे लिये इस र विस्तारपूर्वक विचार करना अप्रासगिक और अनावश्यक है। म केवल यह निर्देश कर सकते हैं कि विभावना की तीव्रता या त्कर्ष और कल्पना की यथार्थकारिता शक्ति ही इस स्थिति के ूल में है। इन्हीं दोनों मानसिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर हम

कल्पित पात्रों को भी वास्तविकता का रूप दे देते हैं। इ
सविस्तर विश्लेषण करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से
भी है। यह समझ लेना चाहिए कि मानसिक सृष्टि का
निर्धारित करना स्रष्टा के लिये कठिन नहीं है जो ऐसी कल्पनाओं
के मायाजाल में फँसते हैं, बल्कि वे विद्वान् भी जो उसके
हैं, उसका रहस्य समझने में असमर्थ हैं। एक विद्वान् का
है—"यह शक्ति आध्यात्मिक है। कभी कभी तो यह
लेखक के हाथ से कलम पकड़ लेती है और उसकी रुचि
विरुद्ध भी उसे चला सकती है।" एक पुस्तक में वह
है—"मैं अपने पात्रों का अनुशासन करने में असमर्थ हो
हूँ और वे मुझे जहाँ चाहते हैं, ले जाते हैं।" इसका तात्पर्य
है कि उसने पात्रों को स्वतंत्र संकल्प-शक्ति से संपन्न कर
है और उनका अनुशासन करना अर्थात् अपनी इच्छा के
उनसे काम लेना उसकी सामर्थ्य से बाहर हो गया है। वे स्व
संकल्पवाले पात्र अपने मनोवेगों से प्रेरित होकर काम करते हैं
और कभी कभी उनके कथन या कार्य ऐसे हो जाते हैं
लेखक को कभी अनुमान भी नहीं होता। यहाँ हम कल्पना
की पराकाष्ठा देखते हैं और इसके रहस्य का उद्घाटन
लेखक या समालोचक दोनों के लिये असंभव है। सृष्टि-वैचि
का सिद्धांत ही इस मानसिक कल्पना में गर्भित जान पड़ता है

अतएव इस मानसिक कल्पना की सृष्टि की कथा को
कर हमें केवल इस बात पर विचार करना चाहिए कि
उपायों का अवलंबन करके लेखक चरित्र-चित्रण में सफल
सकता है। इसके लिये सबसे आवश्यक बात सजीव वर्णन

ो शक्ति है। किसी नाटक के अभिनय में जो काम किसी पात्र
ो वेष भूषा, बोल-चाल, रग-ढग तथा नाटय-कौशल से निकलता
, वही काम उपन्यास-लेखक को अपने वर्णन-कौशल से लेना
ड़ता है। जैसे किसी दृश्य काव्य मे किसी पात्र और उसके
भिनय को देखकर हम उसके चरित्र से परिचित होते हैं, वैसे
उपन्यास में उसके आकार-प्रकार और रूप रग का जीता-
ागता वर्णन पढकर हम उससे अपना मानसिक सम्बन्ध स्थापित
रते हैं। उपन्यास के पात्र की शारीरिक बनावट या प्रकृति आदि
ं जो कुछ विशेषता हो, किसी सकट के समय उसकी भावभगी
ौर आचार-व्यवहार मे जो कुछ महत्ता या विशिष्टता हो, वह
ाठकों के मानसिक नेत्रों के सामने वर्णन द्वारा साक्षात सजीव
ूप धारण करके उपस्थित होनी चाहिए। कुछ लोग यह समझते
ैं कि किसी बात के सविस्तर वर्णन से, जिसमें कोई छोटी से
ोटी या साधारण से साधारण बात भी छूटने नहीं पाती, इस
द्देश की सिद्धि हो सकती है। पर कुशल कलावान अपने मत-
ाब की बातें चुन लेता है और उन्हे आवश्यकतानुसार अपने
ावों, विचारों या शब्दों से रंजित करके अपना उद्देश सिद्ध
रता है।

चरित्र चित्रण में प्राय दो उपायों का अवलम्बन किया जाता
। एक को विश्लेषात्मक या साक्षात और दूसरे को अभिनया-
्मक या परोक्ष कहते हैं। पहले प्रकार में उपन्यास-लेखक अपने
ात्रों का चरित्र-चित्रण स्वय अपने शब्दों में करता है। वह
ात्रों के भावों, विचारों, प्रकृतियों और राग द्वेषों को समझता,
नकी व्याख्या करता, उनके कारण बताता और प्राय उन पर

अपना विवेचनापूर्ण मत भी प्रकट करता है। दूसरे प्रकार लेखक आप मानों अलग खड़ा रहता है और स्वय पात्रों अपने कथन और व्यापार से तथा उसके सबध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से अपना चरित्र-चित्रण करते है। हम पहले कह चुके हैं कि उपन्यासो की कथा कहने के तीन ढग है—(१) ऐतिहासिक या अन्यपुरुप-वाचक, (२) आत्मचारित्रिक या उत्तमपुरुप-वाचक और (३) पत्रात्मक। इनमे से पहले ढग में चरित्र-चित्रण प्राय विश्लेपात्मक या प्रत्यक्ष प्रणाली से किया जाता है, और दूसरे तथा तीसरे ढग में अभिनयात्मक या परोक्ष प्रणाली से। उपन्यासों में लेखक का वर्णन तो विश्लेपात्मक प्रणाली के अनुसार ही होता है और पात्रों का पारस्परिक कथोपकथन अभिनयात्मक प्रणाली के अनुसार, इसलिये प्राय दोनों प्रणालियों का प्रयोग और सम्मिश्रण देख पड़ता है। अतएव किसी उपन्यास-लेखक की कृति पर विचार करने में यह जानना आवश्यक होगा कि उसने किस प्रणाली का कहाँ तक प्रयोग किया है और कहाँ तक दोनों का सम्मिश्रण हुआ है तथा इस कार्य में उसे कैसी सफलता प्राप्त हुई है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि अभिनयात्मक प्रणाली का अधिकाधिक प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि इसमें पात्रों को अपना चरित्र स्वय चित्रित करने का अवसर मिलता है और पाठकों को भी कुछ अंशों में दृश्य काव्य का आनद आ जाता है। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है। पर नाटक और उपन्यास दो भिन्न भिन्न प्रकार के काव्य हैं। उपन्यास में नाट्य-शास्त्र के नियमों का वहीं तक उपयोग होना चाहिए, जहाँ तक वे उसकी सत्ता नष्ट न करें

ौर उसे नाटक का विकृत रूप न बना दें। नाटक और उपन्यास
: प्रधान भेद यही है कि नाटक मे पात्र अपना चरित्र स्वय
थवा दूसरे पात्रों के द्वारा चित्रित करते हैं, नाटककार को
नके विषय मे स्वय कुछ कहने का अधिकार नहीं होता, पर उप-
यास में लेखक बहुत कुछ वर्णन स्वय करता है, और यदि चरित्र
ा पूरा पूरा चित्रण आप नहीं करता, तो भी उस कार्य मे बहुत
छ सहायता अवश्य देता है। इस भेद का नष्ट करना अनुचित
। उपन्यास की उत्तमता प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रणालियो
ा अनुसरण करने से ही प्रस्फुटित हो सकती है। केवल एक
णाली का अवलबन करने मे वह बात नहीं आ सकती।

उपन्यासों में चरित्र चित्रण के सबध में एक और बात ध्यान
ने योग्य है। उपन्यासकार को अपने पात्रों के विषय में सब
छ एक ही समय मे नहीं कह देना चाहिए। उसे यथास्थान
हले अपने पात्र के चरित्र के विषय में मुख्य मुख्य बातें कह
नी चाहिएँ और तब उसे छोड़ देना चाहिए, जिसमे वह दूसरे
त्रों के प्रभाव, अपनी स्थिति और अपने अनुभव के अनुसार
पना चरित्र क्रमश प्रस्फुटित करता जाय। ऐसा करने से
भिन्न भिन्न स्थितियों मे मनुष्य की मानसिक अवस्था के अनुसार
ागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का जो प्राबल्य होता है, उसका सुदर
और जीता जागता चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा
सकता है और वह उन्हें मुग्ध करने में समर्थ होता है। चरित्र-
चित्रण के कार्य में ससार के अनुभव तथा मानव प्रकृति के
विश्लेपण की बहुत आवश्यकता होती है। इन दोनों के अभाव में
चरित्र चित्रण अधूरा, असगत और अस्वाभाविक हो सकता है।

अब तक हमने वस्तु और पात्र के संबंध में अपने विचार अलग अलग लिखे है। परन्तु उपन्यास में दोनों का सम्मिश्रण अनिवार्य है। अतएव इस बात पर भी विचार कर लेना उचित होगा कि दोनों का पारस्परिक संबंध किस प्रकार का है और दोनों कहाँ तक एक दूसरे के आश्रित हैं।

वस्तु और पात्र का संबंध

उपन्यास प्राय दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनमें पात्रों की प्रधानता रहती है और व्यापार-शृखला को गौण स्थान दिया जाता है, दूसरे वे जिनमें व्यापार-शृखला की प्रधानता रहती है और पात्रों का उपयोग घटनाचक्र के सुचारु रूप से चलाने में किया जाता है। इसमे सन्देह नहीं कि पात्रों की प्रधानता श्रेष्ठ है, क्योकि मनुष्य के हृदय पर घटनाओं का प्रभाव स्थायी नहीं हो सकता, परन्तु पात्रों के चरित्र का प्रभाव अधिक स्थायी और लाभकारी होता है। अतएव वे उपन्यास अवश्य उत्तम श्रेणी के हैं जिनमे चरित्र-चित्रण का अधिक ध्यान रखा जाता है। यदि विचारपूर्वक विवेचन किया जाय तो विदित होगा कि वस्तु और पात्र में परस्पर कुछ न कुछ विरोध रहता है। जहाँ वस्तु का अधिक ध्यान रखा जाता है, वहाँ पात्रों से वस्तु के अनुकूल काम लेना अनिवार्य हो जाता है, और ऐसा करने से चरित्र में असङ्गतता का दोष आ जाता है। पर जहाँ पात्र अर्थात् चरित्र-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, वहाँ चरित्र के क्रमश विकसित होने और तदनुसार घटनाचक्र के अग्रसर होने से वस्तु का सामंजस्य प्राय' बिगड जाता है। ऐसी अवस्था में दोनों का उपयुक्त सम्मिश्रण ही वाञ्छनीय

। जब तक वस्तु-विधान और चरित्र चित्रण एक दूसरे के आश्रित होकर अपने अपने उद्देश्य की सिद्धि में तत्पर न होंगे, तब तक यह मिश्रण हानिकारक ही सिद्ध होगा। जिन उपन्यासों का उद्देश्य रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन होगा, उनमें वस्तु-विधान की प्रधानता अवश्य होगी और पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर नाम मात्र का ध्यान दिया जायगा। ऐसे उपन्यासों में पात्र घटना की शृंखला के वशवर्ती होकर इधर उधर घूमें और फिरेंगे और उपन्यास की रोमांचकारिता बढ़ाने में आवश्यकता-नुसार सहायक बनाए जायँगे। किसी उपन्यास में कुछ विभिन्न प्रकृतियों और प्रवृत्तियों के कुछ लोगों का विभिन्न अवस्थाओं में संसर्ग हो जाता है और उन अवस्थाओं के अनुरूप उनके आपस में सहानुभूति या वैमनस्य होता है। आपस के इसी संसर्ग के परिणाम-स्वरूप उस उपन्यास की वस्तु का विकास होना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि भिन्न अवस्था में पात्रों का परस्पर संसर्ग होता है, उसका व्यापार शृंखला पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार पात्र भी वस्तु संगठित करते हैं। अतएव किसी उपन्यास के संबंध में विचार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें वस्तु और पात्र कहाँ तक एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

इस सम्बन्ध में यह बात भी विचारणीय है कि जिन जिन घटनाओं का किसी उपन्यास में वर्णन है, उनके कारण बताने में लेखक कृतकार्य हुआ है या नहीं। अपनी भूमिका के द्वारा वस्तु के अनुसार विकास में द्वेषात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर और व्यापार

व्यापार सतोपजनक और संगत हैं, और उनका जो परिणाम या प्रभाव साधारणत हुआ करता है क्या वही परिणाम या प्रभाव हुआ है । यदि वस्तु के निमित्त किसी पात्र को कोई ऐसा कार्य करने में प्रवृत्त कराया जाता है, जो उसके चित्रित स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है अथवा जिसकी प्रवृत्ति का कारण सर्वथा असंगत, अनुपयुक्त और अस्वाभाविक है, तो यह कहना पडेगा कि वस्तु और पात्र के पारस्परिक सबध का ध्यान न रखकर ऐसा किया गया है । कभी कभी यह दिखाया जाता है कि एक पात्र जन्म भर दुष्ट और नीच रहा है और सदा क्रूरता तथा दु के कार्य करता रहा है पर अत में वह सुजन शिरोमणि बना दिया जाता है, और इस अद्भुत परिवर्तन का कोई सतोपजनक कारण नहीं बताया जाता । ऐसा करना सर्वथा अनुचित और पात्र तथा वस्तु के सम्बन्ध के सामजस्य को नष्ट करना है ।

पात्रों के विषय में विचार करने के अनतर यह स्वाभाविक है कि हम उनकी बातचीत पर विचार करें । कथोपकथन का सुचारु रूप से प्रयोग किसी उपन्यास की आकर्षक शक्ति को बहुत बढा देता है । उपन्यास के इस तत्व के द्वारा हम उसके पात्रों से विशेष परिचित होते और दृश्य काव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ अनुभव करते हैं । वह कथा को चटकीला बना देता और लेखक का कौशल स्पष्ट प्रकट कर देता है ।

कथोपकथन

यद्यपि कथोपकथन का उद्देश्य प्राय वस्तु का विकास करना माना जाता है, पर वास्तव में उसका सबध पात्रों से है। उसके राग द्वेष, प्रवृत्ति, मनोवेग आदि का प्रस्फोटन, पात्रों की

ृति का घटनाओं के अनुकूल परिवर्तन और उनका एक दूसरे
प्रभाव बहुत अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। कुशल
ेखक, जो अभिनयात्मक ढग को अधिक पसन्द करता हो,
सके द्वारा चरित्र का विश्लेषण तथा उसकी व्याख्या बड़ी सुगम-
ा से कर सकता है। और यदि ऐसा करने में स्वाभाविकता
नी रहे, तो मानों सोने मे सुगध आ जाती है। यदि विश्ले-
णात्मक ढग का भी प्रयोग किया जाय, तो भी वह लेखक की
द्देश सिद्धि में बहुत सहायता पहुँचा सकता है।

कथोपकथन का पहला उद्देश वस्तु का विकास तथा पात्रों
ा चरित्र चित्रण होना चाहिए। असम्बद्ध बातें लाने मे इसका
योग कदापि नहीं होना चाहिए, चाहे वे बातें कितनी ही मन
ो प्रसन्न करनेवाली और परिहास का सचार करनेवाली क्यों
हों। हाँ, यदि उनका प्रयोग किसी पात्र का चरित्र चित्रण
रने के लिये हो, तो बात दूसरी है। जिस बात का उपन्यास की
था, उसके उद्देश अथवा पात्र से कोई सम्बन्ध न हो उसके
पय मे कुछ कहना या लिखना मानों उसमें स्पष्ट असङ्गति दोष
ाना है। कथोपकथन मे बाहरी अथवा ऐसी बातों का प्रयोग,
ो देखने में तो अप्रासगिक जान पडे पर वास्तव में वैसी न हों,
हीं तक क्षम्य है, जहाँ तक वे बात वस्तु विकास में सहायक
थवा पात्रों के चरित्र चित्रण में विशेष उपयोगी हों। इस
पवाद को छोडकर कथोपकथन स्वाभाविक, उपयुक्त और अभि-
यात्मक होना चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि हम किसी
ात्र का जैसा चरित्र चित्रित कर रहे हों, और जिस स्थिति में तथा
जिस अवसर पर वह कुछ कह रहा हो, उसी के अनुकूल उसकी

बात-चीत भी होनी चाहिए। साथ ही वह बात-चीत
सरस, स्पष्ट और मनोहर होनी चाहिए। ये गुण
मूल तत्व हैं। इनके विना बात-चीत बनावटी, नीरस, भद्दी और
अनुपयुक्त जान पड़ेगी। कुछ लोग कह सकते हैं कि स्वाभावि-
ता और उपयुक्तता का कुछ अंशों में अभिनयात्मकता से विरोध
है और तीनों गुणों या तत्वों का एक ही स्थान में
चित् कठिन हो। यह ठीक है, पर कठिनाई दूर करने में ही
लेखक का कौशल प्रकट होता है। ध्यान केवल इस बात का
रखना चाहिए कि तीनों गुण उपयुक्त और आवश्यक मात्रा
हों। यदि साधारण अवस्था में असाधारण अथवा तेजस्वी
की बात-चीत वैसी ही दी जाय, जैसी वह प्राय हुआ करती
है, तो वह उखड़ी हुई, विवादमय और प्रभावशून्य जान पड़ेगी।
साथ ही यदि इन दोनों बातों को बचाने का उद्योग किया जाय,
तो इस बात की आशंका है कि कहीं वह बनावटी, नीरस और
क्षोभकारी न हो जाय। अतएव साधारण बात चीत में अथवा
उद्वेग या उत्तेजना की अवस्था में मध्यम मार्ग का ग्रहण करना
ही उचित होगा। लेखक का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह
साधारण लोगों की नित्य प्रति की साधारण बात-चीत के अनु-
रूप ही अपने पात्रों से कथोपकथन न करावे, बल्कि उसे ऐसा
रूप दे जिसमें अभिनय की त्वरा तथा शक्ति के साथ ही साथ
स्वाभाविकता और वास्तविकता का प्रत्यक्ष रूप भी देख पड़े।

हम यह बात कई स्थानों में लिख चुके हैं कि सब प्रकार के
काव्यों की विशेषता यही होती है कि वे पढ़नेवालों में भिन्न
भिन्न मनोवेगों को उत्तेजित कर उनमें अलौकिक आनंद

क करें। यही मनोवेग या भाव साहित्य-शास्त्र मे रस कह-
ते हैं। उपन्यासों में भी उनके सचार की आवश्यकता होती
है। उनके बिना उपन्यास नीरस और प्रभावशून्य
होते हैं। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति अथवा
अभाव इतना प्रत्यक्ष होता है कि साधारण से

उपन्यास और रस

धारण पाठक भी उनका अनुभव किए बिना नहीं रह सकता। तएव यहाँ सक्षेप में इस बात का विचार कर लेना भी आवश्यक ान पडता है कि किसी लेखक में पाठकों के मन मे आनद, रुणा, सहानुभूति अथवा विनोद आदि उत्पन्न करने की शक्ति । होना कहाँ तक आवश्यक और उपयोगी है। किसी न्यास लेखक की कृति के गुणों और दोषों का विवेचन करते मय दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। पहली त तो यह देखी जाती है कि उस लेखक की शक्तियाँ कितनी धिक विस्तृत अथवा सकुचित हैं। यदि उपन्यासों का तुल-त्मक अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान रखा जायगा तो ठकों को और भी अधिक आनद आवेगा। बात यह है कि सी लेखक मे तो करुण आदि रस का सचार करने की शक्ति धिक और हास्य रस का सचार करने की शक्ति कम होती है; र किसी लेखक की अवस्था इसके बिलकुल विपरीत होती है। छ लेखक ऐसे होते हैं जो केवल भीषण मनोविकार उत्पन्न ने मे ही सिद्धहस्त होते हैं, और कुछ ऐसे होते हैं जो थोडी त मात्रा मे सभी प्रकार के मनोविकार उत्पन्न कर सकते हैं। री बात जो ध्यान रखने योग्य है, वह यह है कि इनमें से सी मनोविकार का पाठकों पर कैसा और कितना अधिक

प्रभाव पड़ता है। ऐसी चोज-भरी या चमत्कृत उक्ति भी
के ही अंतर्गत है जिससे मनुष्य को आनंद तो बहुत अधिक
है, पर वह केवल मुस्कराकर रह जाता है, और ऐसी
हास्यपूर्ण ही मानी जाती है जिसके कारण हँसते हँसते पेट
बल पड़ जाते हैं, पर जिसमें वास्तविक चमत्कार की
ही थोड़ी होती है। कभी तो किसी की दुरवस्था देखकर
सहानुभूति का बहुत ही कोमल भाव उत्पन्न होकर रह जाता है
और कभी पाठकों की आँखों मे जल भर आता है। कोई दुः
तो मनुष्य के चित्त में साधारण क्षोभ उत्पन्न करके ही रह जाती है
और कोई उसको बिलकुल आपे से बाहर कर देती है।
यह कि कोई उपन्यास पढ़ते समय इस बात का विचार
चाहिए कि वह उपन्यास अथवा उसका लेखक किस प्रकार
मनोविकार उत्पन्न करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है।

यदि किसी लेखक की लेखनी सचमुच प्रभावशाली हो, यदि
वह सचमुच पाठकों के मन में हास्य, करुणा अथवा दुः
आदि विकार उत्पन्न करने में समर्थ हो, तो हमें यह देखना होगा
कि वह अपनी इस सामर्थ्य, इस शक्ति का कहाँ तक सदुपयोग
अथवा दुरुपयोग करता है। उदाहरण के लिये परिहास को ही
लीजिए। परिहास को हम प्रतिभा की सब से बड़ी देन कह
सकते हैं और इसके कारण किसी उपन्यास का सौंदर्य बहुत
कुछ बढ़ सकता है। पर साथ ही यह भी सम्भव है कि कोई
हास्यप्रिय लेखक परिहास को अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा
कर उसका दुरुपयोग कर डाले, अथवा वह ऐसे बुरे ढंग से
या बेमौके परिहास कर सकता है कि उलटे स्वयं वह और उस

और परिहास दोनों ही हास्यास्पद हो जायँ। कोई परिहास मन प्रसन्न करने के बदले दुःखी अथवा क्रुद्ध भी कर सकता है। परन्तु फिर भी परिहास के उपयोग के सम्बन्ध में कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिनको देखकर मनुष्य के मन में करुणा तो उत्पन्न होती ही है, और साथ ही कभी कभी हँसी भी आ जाती है। किसी बदमस्त शराबी को देखकर वस्तुत मन में करुणा का ही आविर्भाव होगा, पर उसके कुछ कृत्यों से हँसी भी आ सकती है। किसी को बाइसिकिल पर से गिरते देखकर हँसना यद्यपि अनुचित है, तथापि कभी कभी ऐसा दृश्य भी मनुष्य को हँसा ही देता है। ऐसी दशा में स्वय लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरा परिहास उपयुक्त, उचित अवसर पर और मनोवाछित प्रभाव उत्पन्न करनेवाला हो। ऐसे परिहास से दूसरों के आचरण सुधर सकते और दुर्गुण दूर हो सकते हैं। पर यह बात तभी हो सकती है जब लेखक स्वय इस विषय में सतर्क और विचारशील हो। हम तो केवल यही कह सकते हैं कि परिहास बेमौके, अश्लील अथवा निर्दयतापूर्ण न होना चाहिए और उसमें शुद्ध विनोद की मात्रा अधिक होनी चाहिए।

जो बात हास्य के सबध में है वही करुणा और दुःख आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। ससार के प्राय सभी बड़े बड़े साहित्यों में करुणा-रस-प्रधान अनेक ग्रन्थ वर्तमान है, जिनके विशिष्ट अशों को पढ़कर मनुष्य की आँखों से आपसे आप अश्रु-पात होने लगता है। हरिश्चन्द्र के श्मशान-प्रवास अथवा रामचद्र के वन गमन का साधारण वर्णन भी मनुष्य के चित्त को चचल

कर देता है। परन्तु अयोग्य लेखक के हाथ में पडकर इन
दुर्दशा हो सकती है और प्राय होती भी है। कुछ लेखक
दु खमय घटनाओं या दृश्यों के वर्णन में ही अपनी सारी
लगा देते हैं, अथवा किसी साधारण दु खमय घटना का
अत्युक्ति पूर्ण और विस्तृत वर्णन करते हैं कि या तो पाठकों का
ऊब जाता है या उनका चित्त इतना अधिक व्याकुल और दु
उठता है कि उसके सँभालने में ही बहुत समय लग जाता है।
प्रवृत्ति भावुक बगाली लेखकों में बहुत अधिकता से पाई
है। वे बात बात में अपने पात्रों को रुला देते हैं, जिसमे
वाल के मन मे करुण रस का सचार तो होता नहीं,
एक प्रकार की अरुचि उत्पन्न हो जाती है। बँगला के
नाटककार गिरीश घोष के प्राय सभी नाटकों के किसी
किसी पात्र पर इतनी अधिक विपत्ति ढाई गई है कि अत
उसके पागल होने की नौबत आ गई है। यहाँ भी सब
लेखक के विवेक और विचारशीलता पर ही निर्भर करती
और कोई ऐसा नियम निश्चित नहीं हो सकता जिससे
जाना जा सके कि इस सीमा तक करुण रस का सचार उचि
और इसके आगे अनुचित है। हम केवल यही कह सकते
कि लेखक को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि पाठ
के चित्त पर ऐसी सभी बातों का कुछ न कुछ परिणाम
प्रभाव होता है, और उसे यथासाध्य इस बात का उद्योग कर
चाहिए कि मेरा ऐसा वर्णन, अप्रिय अथवा खटकनेवाला
हो। यदि किसी उपन्यास को समाप्त करने के उपरात हमारी
धारणा हुई कि इसके अमुक वर्णन ने हमारे मन को आवश्यक

अधिक क्षुब्ध किया, व्यर्थ ही हमें उत्तेजित कर दिया, अथवा
ाप्ति के उपरांत भी हमें बहुत देर तक दु:खी और चिन्तित
ा, तो फिर चाहे उस उपन्यास में और कितने ही गुण क्यों
ों, वह पूर्ण रूप से प्रशंसनीय नहीं होगा। यद्यपि यह किसी
न्यास के प्रशंसनीय होने की बहुत बढ़िया और बिलकुल ठीक
ौटी नहीं है, तथापि इसका कुछ न कुछ उपयोग अवश्य हो
ता है।

अब हम किसी उपन्यास के देश और काल का विचार
ते हैं। उपन्यास के "देश और काल" से हमारा तात्पर्य उसमें
वर्णित आचार विचार, रीति रिवाज, रहन सहन
ा और काल — और परिस्थिति आदि से है। इसे हम दो भागों
में विभक्त कर सकते हैं—एक तो सामाजिक
र दूसरा ऐहिक या सांसारिक। ऐसे उपन्यास लिखना सहज
ीं है जिनमें जीवन या समाज के सभी अंगों और स्वरूपों
समावेश हो, और इसी लिये ऐसे उपन्यास देखने में भी कम
ते हैं। साधारणत: अधिकांश उपन्यास ऐसे ही होते हैं जिन
जीवन अथवा समाज के दो ही एक अंगों का चित्र खींचा
ा हो। कोई उपन्यास साधारण गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्ध
ता है और कोई किसी ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित होता
पर फिर भी दोनों में से कोई पूर्ण व्यापक नहीं हो सकता।
स्थ्य जीवन के भी अनेक अंग हैं। किसी उपन्यास में कलह-
ा स्त्रियों का चरित्र चित्रित होता है, किसी में नवयुवकों
नैतिक पतन दिखलाया जाता है। किसी में धनवानों के
ास और नाश का प्रदर्शन होता है, किसी में दरिद्रों के कष्ट-

पूर्ण जीवन का निरूपण होता है। बहुधा ऐसा होता है
उपन्यास का आरंभ तो साधारण परिस्थिति में होता है,
आगे चलकर उसके नायक को कठिन, असाधारण और
परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। लेखक चाहे
प्रणाली का अनुसरण करे और चाहे जिस अवस्था का
खींचे, पर यह स्पष्ट है कि उसे चरित्र-चित्रण में देश, काल
परिस्थिति आदि का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ेगा। हमें
स्मरण रखना चाहिए कि बहुत से उपन्यास आदि तो केवल
लिये मनोरञ्जक होते हैं कि उनमें समाज के किसी विशिष्ट
देश के किसी विशिष्ट भाग अथवा काल के किसी विशिष्ट
से सम्बन्ध रखनेवाला ही वर्णन होता है। ऐसी दशा में
उपन्यास का वर्णन जितना ही सटीक और स्वाभाविक
वह उपन्यास उतना ही अच्छा माना जायगा।

ऐतिहासिक उपन्यासो में इन बातों का ध्यान रखने की
भी अधिक आवश्यकता होती है, क्योंकि उनमें लेखक को
विशिष्ट युग अथवा काल का ही चित्र अंकित करना पड़ता
कुछ उपन्यास तो स्वयं ऐतिहासिक घटनाओं से ही सम्बन्ध
हैं, पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके कथानक का इतिहास
बहुत थोड़ा संबंध होता है और जिनमें किसी ऐतिहासिक
के सामाजिक अथवा और किसी प्रकार के जीवन का चित्र
है। श्रीयुत राखालदास वंद्योपाध्याय कृत करुणा और शशां
उपन्यास ऐसे हैं जिनकी कथा-वस्तु की ऐतिहासिक घटनाओं
आधार पर ही रचना की गई है, पर जिनमें उस समय के आचा
विचार, रीति-रवाज और राजकीय परिस्थिति आदि का

। दिग्दर्शन कराया गया है। ऐसे उपन्यास लिखने के लिये
' बात बहुत ही आवश्यक है कि लेखक उस समय से संबंध
नेवाली काम की सभी बातों का बहुत अच्छी तरह और
चारपूर्वक अध्ययन करे। बिना ऐसा किए वह कोई अच्छा
तेहासिक उपन्यास लिखने में कभी समर्थ और सफल हो ही
ं सकता। यदि कोई लेखक केवल वर्तमान काल की घटनाओं
र परिस्थितियों आदि के आधार पर कोई ऐतिहासिक उपन्यास
ने और उन्हीं घटनाओं तथा परिस्थितियों का उस ऐतिहासिक
ल में आरोप मात्र करके छोड़ दे, तो उपन्यास का शिक्षित
ाज में क्या आदर होगा? ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व
ो केवल इसी में है कि उसमें किसी प्राचीन काल के जीवन का
र्ण और विस्तृत वर्णन किया जाय, जिससे पाठकों के सामने
स काल का जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाय। और यह
ात तभी हो सकती है जब लेखक ने उस काल की सभी बातों
ा भली भाँति अध्ययन किया हो, और साथ ही उसमें उनका
ीक ठीक वर्णन करने की पूरी शक्ति भी हो। ऐतिहासिक उप-
न्यास लिखनेवाले का काम ही यह है कि पुरातत्व और इतिहास
के जानकारों ने जिन रूखी सूखी बातों का संग्रह किया हो,
उनको वह सरस और सजीव रूप देकर अपने पाठकों के सामने
उपस्थित करे, और उसे इधर उधर बिखरी हुई जो सामग्री
भिन्न भिन्न साधनों से मिले, उसकी सहायता से वह अपने
कौशल के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करे। ऐतिहासिक
उपन्यासों के पाठक तो उसी लेखक का सब से अधिक आदर
करते हैं जो किसी विशिष्ट अतीत काल का बिलकुल सच्चा, जीता-

जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन कर सके। उसके और पुरातत्व-ज्ञान का भी आदर होता है, पर उतना अधिक जितना उसकी वर्णन शक्ति का। हाँ, उस दशा में पुरातत्व का भी विशेष आदर हो सकता है, जब उपन्यास की आधारभूत घटनाएँ बहुत ही प्राचीन और ऐसे काल से संबद्ध हों जिसके विषय में सर्वसाधारण को बहुत ही कम ज्ञान हो पर इस विषय का विशेष विवेचन प्रस्तुत विषय से अधिक संबंध नहीं रखता, इसलिये हम यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि। ऐतिहासिक काल की घटनाओं के आधार पर कोई लिखा जाय, उस काल के विचारों, भावों, व्यवहारों और परिपाटियों आदि का उसमें ठीक ठीक और पूरा पूरा वर्णन चाहिए।

देश और काल के अतिरिक्त किसी उपन्यास का संबंध दूसरी ऐहिक बातों से भी होता है। कुछ लेखक तो बड़े अच्छे दृश्यों का वर्णन भी बहुत ही संक्षेप में करके छुट्टी जाते हैं और कुछ लेखक छोटी से छोटी बातों का भी बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन करने बैठ जाते हैं। कुछ लेखक तो पर्वत नदियों या जंगलों की प्रातःकालीन शोभा का वर्णन दो पंक्तियों में ही दे देना पर्याप्त समझते हैं और कुछ लेखकों खिड़कियों में लगे हुए जँगलों, उनके आगे पड़े हुए परदों उन परदों में बने बेल बूटों तक का वर्णन किए बिना संतोष होता। हमारी समझ में लेखक को किसी प्राकृतिक दृश्य वैसा ही वर्णन करना चाहिए, जैसा कि कोई अच्छा उस दृश्य का चित्र खींचता। बहुत ही विस्तृत अथवा बहुत

ाचित्त वर्णन कभी प्रभावशाली अथवा चित्ताकर्षक नहीं हो
ाकता। हाँ, यदि लेखक चाहे तो उन प्राकृतिक दृश्यों अथवा
ूसरी बातों का अपने कथानक में और प्रकार से उपयोग कर
ाकता है। वह अपनी रचना की केवल सौंदर्य वृद्धि के लिये भी
मे दृश्यों का वर्णन कर सकता है और अपने सुजन पात्रों के
ाथ पाठकों की सहानुभूति बढाने अथवा दुष्ट पात्रों की दुष्टता
ाधिक प्रत्यक्ष करने के लिये भी कर सकता है। जैसे नवजात
ृष्ण को गोद में लेकर यमुना पार करनेवाले वसुदेव के साथ
हानुभूति बढाने के लिये भीषण अंधकार, घोर वर्षा, प्रचंड वायु
ौर प्रबल बाढ का बहुत अच्छा वर्णन हो सकता है। अथवा
न में परम पवित्र भाव उत्पन्न करनेवाली किसी सुंदर नदी के
मणीय तट पर किसी अघोर कृत्य करनेवाले दुष्ट की दुष्टता
कट करने के लिये भी ऐसे वर्णनों का उपयोग हो सकता है।
ाथवा किसी शोकपूर्ण घटना का वर्णन करते हुए पडनेवाली
ुहार का इंद्र के अश्रुपात के रूप में उपयोग हो सकता है। पर
ाय लेखक प्राकृतिक दृश्यों या घटनाओं आदि का उपयोग
ापने पात्रों के साथ सहानुभूति बढाने में ही करते हैं। किले के
र्ज में बंद किसी कैदी का वर्णन करते हुए साथ मे आँधी और
ूफान का उल्लेख होता है, और अट्टालिका में पडी हुई विरहिणी
वर्णन के साथ बादल की गरज और बिजली की चमक का
ल्लेख होता है। साधारणत लेखक लोग अपने पात्रों की अवस्था
और प्राकृतिक घटनाओं में सामजस्य ही स्थापित करने का
उद्योग करते हैं। विरोध तो प्राय ऐसे ही लेखकों की रचनाओं
में पाया जाता है, जो यह समझ लेते हैं कि प्रकृति को मनुष्यों

के सुख दुःख का कुछ भी ध्यान नहीं होता, अथवा जो इस बात का अनुभव कर लेते हैं कि सुंदर से सुंदर दृश्यों और शोभाओं का भी निर्दय और कठोर हृदय दुष्टों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अब हम उपन्यास के अंतिम और छठे तत्व उद्देश पर कुछ विचार करते हैं। इस उद्देश मे हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। नाटक की भाँति उपन्यास का भी जीवन के साथ सब मे अधिक और घनिष्ठ संबंध है। उपन्यासो मे मुख्यतः यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार, भाव और पारस्परिक संबंध आदि क्या हैं, वे किन किन कारणों अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे कार्य करते हैं, अपने प्रयत्नों मे वे किस प्रकार सफल या विफल होते हैं, और इन सब के फल-स्वरूप उनमें कैसे कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते हैं। उपन्यास-लेखक का जीवन के किसी एक अथवा अनेक अंगों के साथ बहुत ही घनिष्ठ संबंध होता है, इसलिये किसी न किसी रूप में यह प्रकट करना उसका कर्तव्य हो जाता है कि जीवन के साधारण और असाधारण सभी व्यापारों का उस पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा है। कुछ विशेष सिद्धांतों अथवा विचारों के प्रतिपादन के उद्देश से तो बहुत ही कम उपन्यास लिखे जाते हैं, पर सभी उपन्यासों में कुछ कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धांत आप से आप आ जाते हैं। यदि किसी छोटी से छोटी कहानी को भी [illegible] तो उसमें भी नैतिक महत्व [illegible] न कोई [illegible] हीं

| कुछ लोग कहा करते हैं कि उपन्यास खाली समय मे
नल दिल वहलाने के उद्देश से ही लिखे जाते हैं, इसलिये
नमें जीवन सबधी गूढ सिद्धातों और तत्वो को ढूँढ़ना ठीक
हीं। बहुत ही साधारण कोटि के उपन्यासो के सबध में यह
थन ठीक हो सकता है, पर उच्च कोटि के उपन्यासों के सबध
यह बात नहीं कही जा सकती। जीवन सबधी कुछ न कुछ
सिद्धात और तत्व तो साधारण उपन्यासो में भी हो सकते है
और होते हैं, पर वे स्पष्ट रूप से इसी लिये हमारे सामने नही
आते कि उनके लेखकों में उन्हे व्यक्त करने की यथेष्ट शक्ति ही
नहीं होती। पर बडे बडे उपन्यास-लेखक अच्छे अनुभवी और
विचारशील होते हैं। वे लोगों के विचारो, भावो और व्यवहारो
आदि का भली भाँति निरीक्षण करके उनके सबध में पूर्ण ज्ञान
प्राप्त करते हैं, और उस अनुभव तथा ज्ञान की सहायता से वे
नैतिक महत्व का ऐसा अच्छा चित्र अङ्कित करते है, जिसकी
कोई विचारशील पाठक कभी उपेक्षा कर ही नहीं सकता। यही
कारण है कि किसी अच्छे उपन्यास की चर्चा छिडते ही आप
से आप जीवन के भिन्न भिन्न अगों अथवा नीति शास्त्र के भिन्न
भिन्न सिद्धातों की चर्चा होने लगती है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई उपन्यास-लेखक
अपने उपन्यास में बडे बडे नैतिक सिद्धातों अथवा जीवन-सबधी
अच्छे अच्छे आदर्शों की ही भरमार कर दे। यह अवश्य है कि
जीवन के सबध में उसके जो विचार अथवा आदर्श होंगे, उन्हीं
के अनुसार वह अपने उपन्यास का वस्तु विन्यास रखेगा तथा
उसके पात्रों का चरित्र चित्रण करेगा। पर उसका यह कृत्य गौण

होगा, उसका मुख्य कृत्य जीवन-संबंधी वास्तविक घटनाओं अथवा कार्यों का निदर्शन और निरूपण करना होगा। अर्थात् वह केवल यही दिखलावेगा कि जीवन साधारणतः किस प्रकार व्यतीत किया जाता है। साधारण जीवन का जो चित्र वह अंकित करेगा, वह अवश्य ऐसा होगा जिससे लोग शिक्षा ग्रहण करते हुए कुछ नैतिक सिद्धांत अथवा आदर्श भी स्थिर कर सकें। जीवन के संबंध में लेखक का जो कुछ अनुभव या निरीक्षण होगा, वह अवश्य लोगों के जीवन सुधार में बहुत कुछ सहायक होगा। और केवल इसी दृष्टि से उपन्यास का उद्देश निश्चित होना चाहिए।

उपन्यासों में जीवन का आलोचन अथवा नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन दो प्रकार से होता है। कुछ उपन्यास-लेखक तो, नाटककार की भाँति, सब घटनाओं और बातों को उनके वास्तविक रूप में ही अपने पाठकों के सामने उपस्थित कर देते हैं। संसार के मनुष्यों और चरित्रों को वे जिस रूप में देखते अथवा पाते हैं, उसी रूप में वे उनको चित्रित करके छोड़ देते हैं और वस्तु विन्यास के ढंग से ही वे अपने नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर देते हैं। अर्थात् वे अपनी कल्पना की सहायता से संसार का एक सूक्ष्म अथवा संक्षिप्त रूप ऐसे ढंग से अंकित करते हैं, जिससे कुछ नैतिक सिद्धांत स्थिर किए जा सकते हैं। केवल पात्रों के चरित्र चित्रण और कथानक के विकास से ही वे जीवन अथवा नीति-संबंधी अपने विचार और सिद्धांत प्रकट कर देते हैं। और तब पाठक अथवा आलोचक का यह काम रह जाता है कि वह उप-

जीवन की व्याख्या

न्यास मे इधर उधर बिखरी हुई बातो के आधार पर कुछ नैतिक निष्कर्ष निकाल लें।

यहाँ तक तो उपन्यास और नाटक दोनों एक ही ढग से चलते हैं। दोनों कुछ घटनाओ अथवा बातो को लोगो के सामने उपस्थित कर देते हैं और परिणाम निकलने का काम पाठकों पर छोड देते हैं। नाटककार को तो स्वय प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी कहने का अधिकार ही नहीं होता, पर उपन्यासकार यदि चाहे तो बीच बीच मे स्वय भी टीका टिप्पणी कर सकता है। वह उपन्यास में दिए हुए चरित्रों की आलोचना और कामो की व्याख्या कर सकता है और उनसे कुछ नैतिक सिद्धात निकाल कर लोगों के सामने रख सकता है। जब वह अपना यह अधिकार काम मे लाता है और अप्रत्यक्ष रूप से चरित्र अकित करने के साथ ही साथ प्रत्यक्ष रूप से उसकी आलोचना भी करने लगता है, तब, वह मानों अपने रचे हुए ससार का आप ही आलोचक और व्याख्याता भी बन जाता है। उस दशा में उसकी वही आलोचना और व्याख्या बाहरी ससार की भी आलोचना और व्याख्या हो जाती है। यही जीवन की आलोचना का प्रत्यक्ष और दूसरा प्रकार है।

किसी उपन्यास के जीवन सबधी तत्वों की परीक्षा करते हुए सब से पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें सत्यता की मात्रा कहाँ तक है। पर वह सत्यता वैज्ञानिक सत्यता से बिलकुल भिन्न और "कवि-कल्पना" में मिलनेवाली "सत्यता" के समान ही होगी। हम यह नहीं कह सकते कि उपन्यासों मे केवल झूठी

उपन्यास में सत्यता

और कल्पित बातें भरी होती हैं और उनमे सत्यता का कोई अश होता ही नहीं। यह सच है कि कोई उपन्यास आदि से अत तक वास्तविक अथवा सच्ची घटनाओं के आधार पर नही होता, उसकी अधिकाश बातें लेखक की कल्पना से ही उद्भूत रहती हैं। परन्तु इतना होने पर भी उसमें गूढ और व्यापक सत्यता अतर्हित रहती है, जो अधिक प्रभावशाली और शिक्षाप्रद होती है। कविता के विवेचन में हम जिस "कवि-कल्पना में सत्यता" का उल्लेख कर चुके हैं, वही सत्यता उपन्यासों, आख्यायिकाओं और नाटको आदि में भी उपस्थित रहती है। जो कुछ कभी हुआ हो अथवा नित्य होता हो, केवल वही सत्य नहीं है, बल्कि जो कुछ हो सकता हो, वह भी सत्य ही है। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए कुछ विद्वान् साहित्य के दो भेद मानते हैं—एक तो ज्ञान का साहित्य और दूसरा शक्ति का साहित्य। ज्यों ज्यो विज्ञान की उन्नति होती जाती है, त्यो त्यों ज्ञान का साहित्य तो पिछड़ता और पुराना होता जाता है, पर शक्ति का साहित्य सदा नया और ताजा बना रहता है। भौतिक विज्ञान अथवा शरीर शास्त्र की पाठ्य पुस्तकों मे भी सत्य होता है। पर नए वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उनमे का सत्य पुराना और अधूरा होता जाता है, और इसी लिये उनमे सदा सशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन आदि की आवश्यकता बनी रहती है। पर काव्य, नाटक और उपन्यास आदि ज्ञान के साहित्य नहीं, बल्कि शक्ति के साहित्य हैं, अर्थात् उनमें ज्ञान के बदले एक ऐसी शक्ति होती है जो लोगों को कुछ विशेष बातों का ज्ञान कराती है। ऐसी पुस्तकों मे जो कल्पित सत्य होता है, वह सदा एक-रस

रहता है। उसमें कभी किसी परिवर्तन, परिवर्द्धन या संशोधन आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। पंचतंत्र, कादंबरी अथवा शकुंतला में जो सत्य प्रतिपादित है, उसमे क्या कभी कोई अन्तर पड सकता है या वह कभी पुराना और निकम्मा हो सकता है ?

किसी ने कहा है—"उपन्यास मे नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती है, और इतिहास मे नामों तथा तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती।" इस उद्धरण से हमारा यह तात्पर्य है नहीं है कि इतिहासों मे कुछ भी तथ्य नहीं होता। हमारा अभिप्राय तो केवल यही है कि लोग भली भाँति समझ लें कि उपन्यासो और नाटकों आदि का महत्व किस प्रकार के सत्य का आश्रित है। उपन्यास-लेखक कुछ सच्ची अथवा सम्भावित घटनाओं को तोड-मरोड कर किसी नए और विलक्षण ढग से हमारे सामने उपस्थित कर सकता है। पर फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि जीवन की वास्तविक घटनाओं और शक्तियो अथवा आदर्श सम्भावनाओं मे वह दूर जा पडता है। हाँ, यदि वह इन बातों से दूर जा पडा हो, यदि उसकी कृति में आदि से अन्त तक बिलकुल असम्भव और अनुपयुक्त बातें ही मिलें, जैसी कि हिंदी के ऐयारी के और तिलिस्मी उपन्यासों मे मिलती हैं, तो हम कह सकते हैं कि लेखक ने उपन्यास के वास्तविक उद्देश अथवा लक्ष्य पर कुछ भी ध्यान नहीं रखा, और इस दृष्टि से उसकी कृति प्रशसनीय नहीं है।

उपन्यास मे जो सत्यता होती है, वह वास्तव में उसकी वास्तविकता अथवा संभावना से संबद्ध होती है। जो बात संभव

होती, उसका अत मानव जाति आत्म रक्षा के विचार से ही कर देती है। जो भाव या विचार आदि मानव जाति की उन्नति के सिद्धातों के विरोधी अथवा विपरीत होते हैं, उनको वह अधिक समय तक प्रचलित नहीं रहने देती और शीघ्र ही नष्ट कर देती है। अत किसी कला के महत्व के लिये यह आवश्यक है कि उसमें नैतिक अथवा मानसिक उन्नति के भाव भी वर्तमान हों। यों तो कला मात्र का उद्देश आनद का उद्रेक करना है, पर प्रत्येक कला से मन मे कुछ न कुछ भाव, कुछ न कुछ विचार उत्पन्न होते हैं। इसलिये कला का महत्व इसी में है कि उससे हमारे भावों और विचारों में कुछ उन्नति हो, उनका कुछ परिमार्जन हो। मानव जाति की वास्तविक उन्नति उसकी नैतिक उन्नति मे ही मानी जाती है, और इसी लिये मानव जाति सारा उद्योग नैतिक उन्नति के लिये ही करती है। और यही कारण है कि जो कला-कुशल महत्व प्राप्त करना चाहते हैं, वे न तो नीति के विरुद्ध चल सकते हैं और न उसकी उपेक्षा कर सकते हैं।" जो लेखक इस तत्व पर ध्यान रखकर चलेंगे, वे अवश्य ही सफल-मनोरथ होंगे। अन्यान्य कलाओं की भाँति काव्य कला पर भी नीति सबधी यह उत्तरदायित्व है। इसका भी जन्म जीवन से होता है, इसकी भी पुष्टि जीवन से होती है और इसका भी जीवन पर कुछ प्रतिघात होता है। अत जीवन के प्रति इसका जो उत्तरदायित्व है, उसकी हम अवहेलना नहीं कर सकते। यदि उपन्यास का सबध जीवन से है, तो नीति से भी सबध होना चाहिए, और नीति के साथ उसका जितना ही घनिष्ट सबध होगा, वह उतना ही महत्वपूर्ण तथा आदरणीय होगा।

अब हम संक्षेप में आख्यायिकाओं या छोटी छोटी कहानियों के संबंध में, जिनको लोग बंगालियों की देखा-देखी भूल से "गल्प" कहते हैं, कुछ कहना चाहते हैं। आजकल संसार की प्रायः सभी भाषाओं में इन कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। कुछ लोग बड़े बड़े उपन्यासों का आकार और पृष्ठ-संख्या आदि देखकर घबरा जाते हैं, और कुछ लोगों को, घबराहट न होने पर भी, इतना समय ही नहीं मिलता कि वे बड़े बड़े उपन्यास पढ़ सकें। ऐसे लोगों के सुभीते के लिये ही आख्यायिकाओं अथवा छोटी कहानियों का प्रचार हुआ है। ये कहानियाँ इतनी छोटी होती हैं कि किसी मासिक पत्र के एक ही अंक में, और और विषयों के साथ, कई कई आ जाती हैं। उपन्यासों और नाटकों की भाँति इनसे भी अच्छी नैतिक शिक्षा मिल सकती है और इनमें भी मनोरंजन होता है। यही कारण है कि आजकल ऐसी आख्यायिकाओं अथवा कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। इनका इतना बढ़ता हुआ प्रचार देखकर कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लग गए हैं कि कुछ दिनों में उपन्यास रह ही न जायँगे और ये कहानियाँ ही उपन्यासों का स्थान ले लेंगी। पर हमारी समझ में यह आशंका निर्मूल है, क्योंकि उपन्यास का काम आख्यायिकाओं से कभी निकल ही नहीं सकता। आख्यायिका के छोटे क्षेत्र में जीवन की उतनी अधिक विवेचना हो ही नहीं सकती, जितनी उपन्यास में होती है। उसमें पात्रों के चरित्र का उतना अच्छा विकास और चित्रण भी नहीं हो सकता, जिसके लिये उपन्यासों का इतना महत्त्व और आदर है। हिंदी में बहुत

आख्यायिका या कहानी

बडे बडे उपन्यासो का तो अभाव ही है, पर फिर भी हम कह सकते हैं कि परीक्षा-गुरु अथवा प्रेमाश्रम आदि में जीवन के जितने चित्र खींचे गए हैं, उतने चित्र एक क्या कई आख्यायिकाओं में भी नहीं आ सकते। जिस प्रकार ससार में मनुष्यों के व्यवहारों और कार्यों आदि का निरीक्षण करने मे हमें बहुत अधिक समय लगता है, उसी प्रकार पुस्तकों मे भी उनसे परिचित होने के लिये अधिक समय लगना आवश्यक और अनिवार्य है। छोटी कहानियो मे उनके पात्रों का और हमारा बहुत ही थोडे समय के लिये साथ होता है और हमे उनके बहुत ही थोडे कार्यों तथा व्यवहारों आदि का परिचय मिलता है। हमारे चित्त पर उनके अध्ययन से जो प्रभाव पडता है, वह भी अपेक्षाकृत बहुत ही अल्प और थोडे महत्व का होता है। जब तक जीवन की जटिलताएँ रहेगी और जब तक लोगो को सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बातें जानने की रुचि रहेगी, तब तक उपन्यासों का स्थान आख्यायिकाएँ नहीं ले सकेंगी। पर इस समय हम इस बात का विचार करने नहीं बैठे हैं कि उपन्यास और आख्यायिका मे से कौन श्रेष्ठ अथवा अधिक स्थायी है। हम तो उपन्यास की भाँति आख्यायिका को भी गद्य काव्य का एक अग मानते हैं और इसी दृष्टि से उसका विवेचन करते हैं।

सब से पहले हमे यह जान लेना चाहिए कि आख्यायिक या छोटी कहानी कहते किसे हैं। आजकल जैसी कहानियों क प्रचार बढ रहा है, उनको देखते हुए हम कह सकते हैं कि आख्यायिका ऐसे गद्य कथानक को कहते हैं, जो घटे दो घटे के

अंदर ही पढकर समाप्त किया जा सके, अर्थात् ऐसी कहानी जो थोड़े से अवकाश के समय एक ही बैठक मे समाप्त हो सके।

आख्यायिका का रूप

आख्यायिका कभी उपन्यास का संक्षिप्त रूप नहीं हो सकती, क्योकि जो बाते किसी उपन्यास के सौ दो सौ पृष्ठो मे आ सकती हैं, वे दस बीस पृष्ठो का किसी आख्यायिका मे नहीं आ सकतीं। प्राय सभी देशों में वृद्धा स्त्रियाँ सन्ध्या समय घर मे बैठकर बालकों को अनेक प्रकार की शिक्षाप्रद अथवा कुतूहलवर्द्धक कहानियाँ सुनाया करती हैं। आज कल की आख्यायिकाएँ भी एक प्रकार से उन्हीं कहानियों का सशोधित और परिमार्जित रूप हैं। आज कल भी मासिक पत्रों आदि में अनेक ऐसी कहानियाँ निकला करती हैं, जो पुराने ढग की कहानियो और आधुनिक ढग की आख्यायिकाओ के बीच की होती हैं। आख्यायिकाओं के प्रचार के साथ ही साथ लोग यह समझने लगे हैं कि आख्यायिकाएँ लिखना भी एक कला है और उसके लिये भी किसी विशेष कौशल की आवश्यकता है। जिस प्रकार उपन्यासो और आख्यायिकाओ के विस्तार मे अतर है, उसी प्रकार उनके उद्देश्य और वस्तु-विन्यास आदि में भी अतर है।

आख्यायिका का विषय ऐसा होना चाहिए जिसका उसकी सकुचित सीमा के अंदर भली भाँति विकास और निर्वाह हो सके।

आख्यायिका रचना के सिद्धान्त

इस विषय में पाठकों की रुचि का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिए। कोई आख्यायिका समाप्त करने के उपरात पढनेवाले की यह सम्मति होनी चाहिए कि यदि इस आख्यायिका का और

अधिक विस्तार किया जाता, तो उससे कोई लाभ न होता। तात्पर्य यह कि किसी आख्यायिका से पाठको के मन मे यह भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि जो कुछ कहा गया है, वह ठीक और पर्याप्त है, इसमें अनावश्यक बातें नहीं आने पाई हैं और इतने से ही आख्यायिका का उद्देश्य सिद्ध हो गया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आख्यायिका में किसी एक ही अथवा क्षणिक घटना का ही उल्लेख हो। उसमें साहित्यिक रूप में जीवन के एक से अधिक अगों के चित्र होने चाहिएँ और इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि आख्यायिका की सारी उत्तमता उसके कहने के ढग पर निर्भर करती है। उसमें चरित्र या अनुभव के किसी एक ही पक्ष का विचार अथवा प्रदर्शन हो सकता है, अथवा उतनी अधिक और व्यापक बातें भी बतलाई जा सकती हैं, जितनी अनेक साधारण उपन्यासो में भी नहीं पाई जातीं। पर हाँ, यदि किसी छोटी सी आख्यायिका में किसी व्यक्ति के सारे जीवन की सभी घटनाओं को भरने का उद्योग किया जायगा, तो वह पाठकों के लिये अरुचिकर होगा और पठित समाज में उसका आदर न हो सकेगा। इसी लिये हमने कहा है कि आख्यायिका की उत्तमता उसके विषय तथा प्रतिपादन-शैली पर ही निर्भर रहती है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसके उद्देश, साधन और परिणाम आदि में सामजस्य होना चाहिए। आख्यायिका का उद्देश अथवा आधारभूत सिद्धान्त एक ही होना चाहिए, और आदि से अत तक उसी उद्देश या सिद्धान्त का ध्यान रखकर और उसी का ... उत्पन्न करने के विचार से आख्यायिका लिखी

उपन्यासों में इतनी अधिक बातें होती हैं कि उनसे कोई एक मुख्य सिद्धांत या परिणाम निकलना प्राय कठिन हो जाता है। परन्तु आख्यायिका के सम्बन्ध में यह बात नहीं होनी चाहिए। आख्यायिका में तो मुख्य विचार केवल एक ही, और वह भी बहुत ही प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट होना चाहिए। बीच में कोई ऐसी बात नहीं आनी चाहिए जिससे पढ़नेवाले का ध्यान उस मुख्य विचार से हटकर किसी दूसरी ओर चला जाय। यदि किसी आख्यायिका का उद्देश और परिणाम दोनों बिलकुल एक हो, तो समझ लेना चाहिए कि उसके लेखक को अच्छी सफलता हुई है।

पर आख्यायिका लिखने में उद्देश और परिणाम की यह एकता प्रतिपादित करना ही सब से अधिक कठिन काम है। इसी कठिनता का ध्यान रखते हुए कुछ विद्वानों ने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि बड़े बड़े उपन्यासों की अपेक्षा छोटी छोटी आख्यायिकाएँ लिखना और अधिक कठिन काम है। उसमें अधिक कौशल की आवश्यकता है। एक विद्वान् का मत है—"कुशल लेखक बहुत अच्छी तरह विचार करके यह निश्चित करता है कि पाठकों के हृदय पर मेरी रचना का अमुक प्रकार का प्रभाव पड़े, और तब उसी प्रभाव या परिणाम पर ध्यान रखकर वह ऐसी घटनाओं की रचना करता है, जो अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने में सब से अधिक सहायक होती है। यदि उसके प्रारंभिक वाक्य से ही उस परिणाम का आरम्भ न हो, तो समझना चाहिए कि पहले ही ग्रास में मक्षिका पात हो गया। सारी रचना में एक भी ऐसा शब्द न होना चाहिए जो प्रत्यक्ष रूप से पाठकों को उस अभीष्ट परिणाम अथवा प्रभाव की ओर अग्रसर न

करता हो। इतने ध्यान, इतने कौशल और इतने साधनो से अन्त मे जो चित्र प्रस्तुत होता है वही विचारशील और कलाकुशल प्रेक्षक को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर सकता है। बस यही कहानी का शुद्ध और स्वच्छ रूप है और यह रूप उपन्यास को प्राप्त नहीं हो सकता।" अच्छी आख्यायिकाएँ लिखने मे इस परामर्श का बहुत कुछ उपयोग हो सकता है।

आख्यायिका में थोडे से ही स्थान मे कोई बड़ी बात बतलानी पडती है, इसलिये उसकी रचना की सभी बातो पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उसमें सभी अनावश्यक और निरर्थक बातें छोड दी जाती हैं, इस बात का ध्यान रखा जाता है कि किसी बात का आवश्यकता से कम या अधिक विस्तार न हो, घटनाओ का क्रम बिलकुल ठीक और गठा हुआ हो, और उसके सभी भिन्न भिन्न खड या अग सारी आख्यायिका के अनुरूप और अधीन हों। उपन्यासो में तो रचना सम्बन्धी दोष कहीं कहीं छिप भी जाते हैं, पर आख्यायिका में वे बहुत ही स्पष्ट दिखाई देते है। अख्यायिका के सम्बन्ध में यही साधारण सूचनाएँ हैं, जिनका ध्यान रखना उपयोगी हो सकता है। नहीं तो उसकी रचना के कोई निश्चित नियम नहीं बतलाए जा सकते। नियम आवे कहाँ से? एक तो रचना प्रणाली का सम्बन्ध विषय और उद्देश से है, और दूसरे किसी कला से सबध रखनेवाली छोटी छोटी बातें बतलाना या नियम निर्धारित करना बहुत ही कठिन होता है, क्योकि कला-सम्बन्धी छोटी छोटी बातो का ठीक ठीक अनुमान तो उसका पूरा स्वरूप देखकर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह बतलाना भी कठिन है कि किस उद्देश या लक्ष्य पर ध्यान रखकर आख्यायिका लिखी जानी चाहिए। यदि उसकी रचना से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों का ध्यान रखा जा सके, तो फिर प्रत्येक उद्देश और प्रत्येक साधन से आख्यायिका लिखी जा सकती है। उससे पाठकों को हँसाया भी जा सकता है और रुलाया भी जा सकता है। उनको चकित भी किया जा सकता है और चक्कर में भी डाला जा सकता है। उनको मनोविज्ञान के भी कुछ सिद्धांत बतलाए जा सकते हैं और प्रेम का प्रभाव या परिणाम भी दिखलाया जा सकता है। प्राचीन काल का दृश्य भी उनके सामने रखा जा सकता है और भविष्यत् का चित्र भी अंकित किया जा सकता है। कोई रोमांचकारिणी अथवा शिक्षाप्रद घटना भी चित्रित की जा सकती है और जीवन का कोई अंश भी चित्रित किया जा सकता है। अपना कोई अनुभव भी बतलाया जा सकता है और देश अथवा समाज की अवस्था भी बतलाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि सैंकड़ों हजारों विषयों पर बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रायः सभी विषयों पर, आख्यायिकाएँ लिखी जा सकती हैं। यदि आप चाहें तो पहले अपने मन में आख्यायिका की कोई वस्तु निर्धारित कर लें और तब उसके अनुरूप चरित्र आदि लाकर उसमें आरोपित करें। अथवा आप कोई चरित्र चुनकर उसके अनुरूप वस्तु विन्यास भी कर सकते हैं। अथवा यदि आपके मन में कोई विचार या सिद्धांत उद्भूत हुआ हो, तो उसके अनुरूप वस्तु विन्यास और चरित्र चित्रण भी कर सकते हैं। आख्यायिका के सम्बन्ध में यही सब बातें विशेष

उद्देश या लक्ष्य

ध्यान देने योग्य हैं। उसकी शेष अन्यान्य बातें प्राय उपन्यास की अन्यान्य बातों से ही मिलती जुलती हैं, जिनका अभी पहले के पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है।

अब हम संक्षेप में निबंध के संबंध में दो चार बातें बतला कर यह प्रकरण समाप्त करेंगे। आधुनिक साहित्य में निबंध का स्थान बहुत ऊँचा है और साधारण कोटि के पाठकों की अपेक्षा विद्वानों में उसका आदर बहुत अधिक है। पर साथ ही उसकी परिभाषा इतनी अनिश्चित, व्याख्या इतनी कठिन तथा विषय, उद्देश और शैली आदि का विस्तार इतना अधिक है कि उसका ठीक ठीक और नियमपूर्वक विवेचन करना बहुत ही कठिन है। इन कठिनताओं और जटिलताओं आदि को देखते हुए कभी कभी तो मन में यह भी प्रश्न उठता है कि क्या इसे साहित्य का कोई स्वतंत्र और निश्चित रूप मानना चाहिए? हिन्दी में तो अभी मानों निबंधों का ठीक ठीक आरम्भ ही नहीं हुआ है, पर दूसरी भाषाओं में लिखे हुए अनेक निबन्धों को देखकर न तो उनकी कोई परिभाषा की जा सकती है और न कोई नियम या सिद्धान्त ही स्थिर किया जा सकता है। किसी निबन्ध में तो बहुत ही जटिल भाषा में बहुत ही थोड़े स्थान में बहुत से पांडित्यपूर्ण विचार भरे रहते हैं और किसी में अनेक प्रकार की सम्मतियाँ अथवा वाक्य आदि उद्धृत रहते हैं। किसी निबन्ध में आपस की सी साधारण बातचीत होती है और किसी में दार्शनिक विचार होते हैं। कोई निबंध पाँच सात पृष्ठों का होता है और कोई सौ पचास पृष्ठों का। तात्पर्य यह कि जितने निबन्ध आप देखेंगे, उनके प्राय उतने ही स्वरूप और प्रकार पावेंगे।

निबंध

यदि हम उनकी कोई व्याख्या या परिभाषा करना चाहें, तो हमें कदाचित् एक भी ऐसा लक्षण या चिह्न न मिलेगा जो सब में समान रूप से वर्तमान हो। किसी के मत से निबन्ध वह अनियमित और क्रमरहित रचना है, जिसमें हृदय के उद्गार भरे हों, और किसी के मत से किसी विशेष विषय पर विस्तारपूर्वक लिखे हुए लेख का नाम निबन्ध है। कोई विस्तृत और सम्बद्ध रचना को ही निबन्ध मानता है, तो कोई ऐसे विवेचन को निबन्ध कहता है जिसमें भिन्न भिन्न मतों का विचार करते हुए कोई सिद्धान्त स्थिर किया गया हो। वास्तव में आजकल निबन्ध शब्द का व्यवहार ही इतने भिन्न भिन्न प्रकार के लेखों और रचनाओं आदि के सम्बन्ध में होता है कि उसकी ठीक ठीक व्याख्या प्राय असम्भव है। पर हमारी समझ में निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक और पाडित्यपूर्ण विचार किया गया हो। साथ ही उस विचार का विस्तार इतना अधिक भी न होना चाहिए कि एक बडा पोथा तैयार हो जाय। वह अधिक से अधिक किसी अच्छी पुस्तक के एक अध्याय के बराबर होना चाहिए। एक लेखक का कहना है—"निबन्ध लिखना बहुत ही सहज है, क्योंकि यह उन्हीं लेखकों के लिये उपयुक्त है जो योग्यता आदि के अभाव के कारण किसी विषय पर गूढ विचार नहीं कर सकते, और निबन्ध से ऐसे ही पाठकों का मनोरंजन भी होता है जो इधर उधर की तथा निरर्थक बातों से ही प्रसन्न होते हैं।" पर हमारी समझ में निबन्ध के सम्बन्ध में यह मत सर्वथा अनुपयुक्त है। एक दूसरे विद्वान् का यह मत हमें बहुत ही ठीक जँचता है कि निबन्ध लिखना बहुत

हो कठिन है, क्योंकि उसमें थोडे मे बहुत सी बातें बतलानी पडती हैं और उसके पाठ से पाठकों को आनन्द भी मिलता है। वास्तव में अच्छा निबन्ध वही कहा जायगा, जिसमे सक्षेप मे बहुत सी काम की बातें बतलाई गई हों। और ऐसा निबन्ध लिखना हर एक लेखक का काम नहीं है। यदि किसी लेखक ने ज्ञान की कमी के कारण ही कोई छोटा और निरर्थक बातो से भरा हुआ निबन्ध लिखा हो, तो वह निबन्ध कभी उच्च कोटि में स्थान न पा सकेगा। पर यदि किसी ज्ञान-सम्पन्न का कोई ऐसा निबन्ध हो जिसमे थोडे में ही बहुत सी काम की बातें आ गई हो, तो वह निबन्ध अवश्य ही सब के लिये आदरणीय और आदर्श होगा।

यह ठीक है कि निबन्ध सक्षिप्त होना चाहिए, परन्तु इसी सक्षिप्तता के कारण यह भी आवश्यक हो जाता है कि उसकी सभी बातें काम की हो और उसमें कोई अनावश्यक बात न आने पावे। ऐसा निबन्ध वही लेखक लिख सकेगा जिसका ज्ञान भाडार पूर्ण होगा और जिसमें मतलब की सभी बातें बहुत ही सक्षेप में कह या लिख सकने का कौशल होगा। वह अपने निबन्ध की सामग्री बहुत ही सतर्क होकर चुनेगा और उससे काम भी बहुत ही कुशलतापूर्वक लेगा। निबन्ध में बहुधा किसी एक ही विषय का समावेश होता है, अतएव लेखक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने विषय का ऐसे अच्छे ढग से प्रतिपादन करे जिसमें पाठको की समझ में सब बातें अनायास ही आ जायँ और उनको उस विषय का पूरा पूरा ज्ञान हो जाय।

प्राय कहा जाता है कि निबन्ध लिखने की परिपाटी इसलिये चली थी कि लोग अपने भाव प्रकट करने का कोई ऐसा

साधन ढूँढते थे जिसमे उनको बातचीत की सी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यही कारण है कि बहुत पुराने लिखे हुए निबन्ध प्राय शिथिल जान पडते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि निबन्ध प्राय उसी समय लिखा जाता है, जब कोई विद्वान किसी विषय का भली भाँति मनन और अध्ययन करके उस पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करना चाहता है। इसलिये अच्छे निबन्ध की यही कसौटी है कि उसके लेखक ने जो कुछ विचार उसमे प्रकट किए हैं, वे स्वतन्त्र और विशेष अध्ययन के परिणाम हैं या नहीं। अच्छे निबन्ध से लेखक के पाडित्य, विचार-शैली और लेखन-कुशलता का बहुत सहज में परिचय मिल जाता है और हमें यह पता लग जाता है कि उस लेखक के विचारों का विकास किस प्रकार हुआ है, उसने अपने विवेच्य विषय पर किस दृष्टि से विचार किया है, अपने विचारों को वह किस प्रकार प्रकट करता है, उसमें अपने विषय का विवेचन करने की कैसी और कितनी शक्ति है और वह सब बातों का विचार करके किस प्रकार कोई परिणाम निकालता है। निबन्ध से किसी लेखक की भाषा और लेख शैली का भी बहुत अच्छा परिचय मिलता है, क्योंकि इस विषय म उसे पूरी स्वतन्त्रता रहती है। सारांश यह कि निबन्ध वास्तव में लेखक की विद्वत्ता और लेख शैली का सब से अच्छा परिचायक और प्रमाण होता है।

ही कठिन है, क्योंकि उसमें थोड़े में बहुत सी बातें बतलानी पड़ती हैं और उसके पाठ से पाठकों को आनन्द भी मिलता है। वास्तव में अच्छा निबन्ध वही कहा जायगा, जिसमें संक्षेप में बहुत सी काम की बातें बतलाई गई हों। और ऐसा निबन्ध लिखना हर एक लेखक का काम नहीं है। यदि किसी लेखक ने ज्ञान की कमी के कारण ही कोई छोटा और निरर्थक बातों से भरा हुआ निबन्ध लिखा हो, तो वह निबन्ध कभी उच्च कोटि में स्थान न पा सकेगा। पर यदि किसी ज्ञान-सम्पन्न का कोई ऐसा निबन्ध हो जिसमें थोड़े में ही बहुत सी काम की बातें आ गई हों, तो वह निबन्ध अवश्य ही सब के लिये आदरणीय और आदर्श होगा।

यह ठीक है कि निबन्ध संक्षिप्त होना चाहिए, परन्तु इसी संक्षिप्तता के कारण यह भी आवश्यक हो जाता है कि उसकी सभी बातें काम की हों और उसमें कोई अनावश्यक बात न आने पावे। ऐसा निबन्ध वही लेखक लिख सकेगा जिसका ज्ञान भाण्डार पूर्ण होगा और जिसमें मतलब की सभी बातें बहुत ही संक्षेप में कह या लिख सकने का कौशल होगा। वह अपने निबन्ध की सामग्री बहुत ही सतर्क होकर चुनेगा और उससे काम भी बहुत ही कुशलतापूर्वक लेगा। निबन्ध में बहुधा किसी एक ही विषय का समावेश होता है, अतएव लेखक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने विषय का ऐसे अच्छे ढंग से प्रतिपादन करे जिसमें पाठकों की समझ में सब बातें अनायास ही आ जायँ और उनको उस विषय का पूरा पूरा ज्ञान हो जाय।

प्रायः कहा जाता है कि निबन्ध लिखने की परिपाटी इसलिये चली थी कि लोग अपने भाव प्रकट करने का कोई ऐसा

साधन ढूँढते थे जिसमें उनको बातचीत की सी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यही कारण है कि बहुत पुराने लिखे हुए निबन्ध प्राय शिथिल जान पडते हैं। पर इसमे सन्देह नहीं कि निबन्ध प्राय उसी समय लिखा जाता है, जब कोई विद्वान किसी विषय का भली भाँति मनन और अध्ययन करके उस पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करना चाहता है। इसलिये अच्छे निबन्ध की यही कसौटी है कि उसके लेखक ने जो कुछ विचार उसमें प्रकट किए हैं, वे स्वतन्त्र और विशेष अध्ययन के परिणाम हैं या नहीं। अच्छे निबन्ध मे लेखक के पाडित्य, विचार-शैली और लेखन कुशलता का बहुत सहज में परिचय मिल जाता है और हमें यह पता लग जाता है कि उस लेखक के विचारों का विकास किस प्रकार हुआ है, उसने अपने विवेच्य विषय पर किस दृष्टि से विचार किया है, अपने विचारों को वह किस प्रकार प्रकट करता है, उसमें अपने विषय का विवेचन करने की कैसी और कितनी शक्ति है और वह सब बातों का विचार करके किस प्रकार कोई परिणाम निकालता है। निबन्ध से किसी लेखक की भाषा और लेख शैली का भी बहुत अच्छा परिचय मिलता है, क्योंकि इस विषय मे उसे पूरी स्वतन्त्रता रहती है। सारांश यह कि निबन्ध वास्तव में लेखक की विद्वत्ता और लेख-शैली का सब से अच्छा परिचायक और प्रमाण होता है।

छठा अध्याय

दृश्य काव्य का विकास

चौथे अध्याय मे हमने कविता के दो मुख्य विभाग किए है—एक भावात्मक और दूसरा बाह्य विषयात्मक। बाह्य विषयात्मक कविता के अन्तर्गत हमने दृश्य और श्रव्य काव्यों की गणना की है। इस अध्याय में हम दृश्य काव्य के विकास का इतिहास देते हैं और आगे चल कर हम नाट्य-कला का विवेचन करेंगे।

दृश्य काव्य का अर्थ वह काव्य है जो देखा जा सके, अर्थात् जिसका अभिनय किया जा सके। इसी दृश्य काव्य को सस्कृत आचार्यों ने "रूपक" नाम दिया है। किसी अभिनय मे अभिनय करनेवाले किसी दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करके उसके अनुसार हाव भाव करते और बोलते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति या उसके रूप का आरोप दूसरे व्यक्ति मे होता है, इसलिये ऐसे काव्य को रूपक नाम दिया गया है। मान लीजिए कि इस प्रकार के किसी काव्य में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यत के सम्बन्ध में अभिनय किया जाता है। तो जो अभिनय करने वाला राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत का रूप धारण करेगा, वह वैसा ही आचरण करेगा जैसा राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत ने उस अवस्था मे किया होगा। उसकी वेष-भूषा, बोल-चाल आदि भी उसी प्रकार की होगी,

परिभाषा

अर्थात् वह भिन्न व्यक्ति होने पर भी लोगों (दर्शकों) के सामने राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत बनकर आवेगा और लोगों को इस प्रकार का भास कराने का उद्योग करेगा कि मैं वास्तव में वही हूँ, जिसका रूप मैंने धारण किया है। इसी लिये रूपक ऐसे काव्य को कहेंगे जिसमें अभिनय करनेवाला किसी के रूप, हाव भाव, वेष-भूषा, बोल चाल आदि का ऐसा अच्छा नाट्य करे कि उसमें और वास्तविक व्यक्ति में का भेद प्रत्यक्ष न हो सके। अब इस अर्थ में साधारणतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द संस्कृत की नट् धातु से निकला है, जिसका अर्थ नाचना है और जो इस काव्य की उत्पत्ति का सूचक है। भिन्न भिन्न देशों में इस कला का विकास भिन्न भिन्न रूपों और समयों में हुआ है, परन्तु एक बात ऐसी है जो सभी नाटकों में समान रूप से पाई जाती है। वह यह है कि सभी नाटकों में पात्र नाट्य के द्वारा किसी न किसी व्यक्ति का अनुकरण या उसकी नकल करते हैं।

हम यह बात पहले बतला चुके हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही ऐसा जीव है जो सदा यह चाहता है कि मैं अपने भाव और विचार दूसरों पर प्रकट करूँ। वह उन्हें अपने अंतःकरण में छिपा रखने में असमर्थ है। उसे बिना उन्हें दूसरों पर प्रकट किए चैन नहीं मिलता। अतएव अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट करने की इच्छा मानव प्रवृत्ति का एक अनिवार्य गुण है। मनुष्य अपने भावों और विचारों को इंगितों या वाणी द्वारा अथवा दोनों की सहायता से प्रकट करता है। भावों और विचारों को अभिव्यंजित करने की ये रीतियाँ वह मानव समाज में मिलकर सीख लेता

है। किसी उत्सव के समय वह इन्हीं भावों को नाच गाकर प्रकट करता है। वाणी और इङ्गित के अतिरिक्त भावों और विचारों के अभिव्यजन का एक तीसरा प्रकार अनुकरण या नकल है। बाल्यावस्था से ही मनुष्य नकल करना सीखता है और उसमें सफल होने पर उसे आनद मिलता है। यह नकल भी वाणी और इङ्गित द्वारा सब मनुष्यों को सुगमता से साध्य है। इसके अनतर वेष भूषा की नकल का अवसर आता है, और यह भी कष्ट-साध्य नहीं है। इन साधनों के उपलब्ध हो जाने पर क्रमश दूसरे व्यक्ति के स्थानापन्न बनने की चेष्टा एक साधारण सी बात है। पर इतने ही से नाटक का सूत्रपात नहीं हो जाता। जब तक नकल करने की प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण नहीं करती, तब तक नाटक का आविर्भाव नहीं होता। पर ज्यों ही नकल करने की यह प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण करती है, त्यों ही मानों नाटक का बीजारोपण होता है। बस यहीं नाटक का आरम्भ है।

किसी का अनुकरण या नकल करने से नाटक की उत्पत्ति या सृष्टि तो अवश्य हो जाती है, पर इतने से ही उसकी कर्तव्यता का अत नहीं हो सकता। नाटक आगे चलकर साहित्य के अनुशासन या नियत्रण में आ जाता है और तब उसे साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। उस दशा में हम उसे नाट्य साहित्य कहते हैं। पर यह नाट्य साहित्य सभी जातियों अथवा देशों में नहीं पाया जाता। ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें नाटक का प्रचार तो यथेष्ट है, पर जिनमे नाट्य साहित्य का अभाव है। अनेक असभ्य जातियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी न किसी रूप मे नाटक

तो वर्तमान हैं, पर जिन्होंने अपने साहित्य का विकास अथवा निर्माण ही नहीं किया। जिन जातियों ने नाटक को शास्त्र का अथवा साहित्यिक रूप दिया है, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, पर जिन जातियों के नाटकों को साहित्यिक रूप नहीं प्राप्त हुआ है, उन जातियों ने भी नाटक के संगीत, नृत्य, भाव भङ्गी, वेश भूषा आदि भिन्न भिन्न आवश्यक और उपयोगी अंगों में रुचि या आवश्यकता आदि के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन करके नाटकों के अनेक भेदों और उपभेदों की सृष्टि कर डाली है। परन्तु नाटक वास्तव में उसी समय साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है, जब उसमें किसी के अनुकरण या नकल के साथ ही साथ कथोपकथन या वार्तालाप भी होता है। नाटक में संगीत या वेश भूषा आदि का स्थान इसके पीछे आता है। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि नाटक की सृष्टि संगीत और नृत्य के कारण तथा इन्हीं दोनों से हुई है।

नाटक की सृष्टि सङ्गीत और नृत्य से तो अवश्य हुई है, पर उसके विकास के मुख्य साधन महाकाव्य और गीति काव्य हैं। इस विषय पर विचार करने से पहले हम संक्षेप में यह बतला देना चाहते हैं कि नाटक का आरंभ कैसे अवसरों पर और किन किन उद्देशों से हुआ था।

नाटकों का आरंभ

प्राचीन काल में मानव समाज अपने विकास की बिलकुल आरंभिक अवस्था में था। लोग ऋतुओं आदि के परिवर्तन को देखकर मन ही मन बहुत भयभीत होते थे और उनके परिणाम तथा प्रभाव से बचने के लिये देवताओं के उद्देश से अनेक प्रकार के उत्सव करके नाचते गाते थे। जिस समय भीषण

वर्षा होती थी अथवा कडाके का जाडा पडता था, उस समय उनके प्राण बडे सकट में पड जाते थे, और वे उस सकट से बचने के लिये अपने अपने देवताओं का आराधन करते थे। बस यहीं से नाटक के मूल गीतों और गीति-काव्यों का आरभ हुआ, जिसने आगे चलकर नाटक की सृष्टि और उसका विकास किया। जब इस प्रकार बहुत दिनों तक आराधना करने और नाचने गाने पर भी वे उन ऋतुओं तथा दूसरी नैसर्गिक घटनाओं में किसी प्रकार की बाधा न डाल सके, तब उन्होंने स्वभावत समझ लिया कि इन सब बातों का सम्बन्ध किसी और गूढ कारण अथवा बडी शक्ति के साथ है। वही शक्ति किसी निश्चित नियम के अनुसार ऋतुओं आदि में परिवर्तन करती तथा दूसरी घटनाएँ सघटित करती है। तब उन लोगों ने अपने नृत्य गीत आदि का उद्देश बदल दिया और वे अपने बाल-बच्चों की प्राण रक्षा या धन धान्य आदि की वृद्धि के उद्देश से अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सव करने लगे। पर इन धार्मिक उत्सवों में भी नृत्य गीत आदि की ही प्रधानता होती थी। यही कारण है कि ससार की प्राय सभी प्राचीन जातियों में धन-धान्य की वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के उत्सव आदि प्रचलित थे। यूनान के एल्यूसिस नामक स्थान में सायन तुला के समय एक बहुत बडा उत्सव हुआ करता था, जिसमें धान्य की देवी डेमिटर की पूजा होती थी। उस अवसर पर कुछ थोडा सा धार्मिक अभिनय भी हुआ करता था, जिसकी मुख्य पात्री डेमिटर देवी की पुजारिन हुआ करती थी। इसी प्रकार चीन के मदिरों में भी फसल हो जाने के अनन्तर धार्मिक उत्सव हुआ करते थे जिनमें अच्छी फसल होने

के उपलक्ष मे देवताओं का गुणानुवाद होता था और साथ ही अभिनय आदि भी होते थे। जिस देवता के मंदिर मे उत्सव हुआ करता था, प्राय उसी देवता के जीवन की घटनाओं को लेकर अभिनय भी किए जाते थे। भिन्न भिन्न स्थानो के देवता भिन्न भिन्न हुआ करते थे। उन देवताओं में से कुछ तो कल्पित होते थे और कुछ ऐसे वीर पूर्वज होते थे, जिनमें किसी देवता की कल्पना कर ली जाती थी। ऐसी दशा मे उन देवताओं के जीवन में से नाटक या अभिनय की यथेष्ट सामग्री निकल आती थी। इसी प्रकार के उत्सव और अभिनय बरमा और जापान आदि में भी हुआ करते थे। फसल हो चुकने पर तो ऐसे उत्सव और अभिनय होते ही थे, पर कहीं कहीं फसल बोने के समय भी इसी प्रकार के उत्सव और अभिनय हुआ करते थे। उन उत्सवों पर देवताओं से इस बात की प्रार्थना की जाती थी कि खेतों में यथेष्ट धन-धान्य उत्पन्न हो। भारत मे तो अब भी फसलों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के पूजन और उत्सव आदि प्रचलित हैं, जिनमें से होली का त्योहार मुख्य है। यह त्योहार गेहूँ आदि की फसल हो जाने पर होता है और उसी से सम्बन्ध रखता है। अब भी होली के अवसर पर इस देश में नृत्य गीत आदि के साथ साथ अनेक प्रकार के स्वाँग निकलते हैं, जो वास्तव मे नाटक के पूर्व रूप ही हैं। यद्यपि आजकल यह उत्सव अश्लीलता के संयोग से बिलकुल भ्रष्ट हो गया है, पर इससे हमारे कथन की पुष्टि में कोई बाधा नहीं होती।

प्राचीन काल में जिस प्रकार धन धान्य आदि के लिये देवताओं का पूजन होता था, उसी प्रकार पूर्वजों और बड़े बड़े

ऐतिहासिक पुरुषों का भी पूजन होता था। उन पूर्वजों और ऐतिहासिक पुरुषों के भी उत्सव होते थे, जिनमें धन धान्य के लिये उनसे प्रार्थना की जाती थी, अथवा उसके लिये उनका गुणानुवाद किया जाता था, और जब नया धान्य तैयार हो जाता था, तब उनको उसका भोग लगाया जाता था। और और देशों में तो पूर्वजों की केवल मूर्तियाँ बनाकर ही मंदिरों में स्थापित कर दी जाती थीं, पर मिस्र और पेरू में स्वयं मृत शरीर ही रक्षित रखे जाते थे। प्रायः उन्हीं पूर्वजों का पूजन करके लोग उनके जीवन की घटनाओं का अभिनय किया करते थे और इस प्रकार मनोविनोद के साथ ही साथ उनकी स्मृति भी बनाए रखते थे। बहुधा ऐसे उत्सव बड़े बड़े वीरों और योद्धाओं के उद्देश से ही और उन्हीं के सम्बन्ध में हुआ करते थे। यह वीर-पूजा सभी प्राचीन जातियों में प्रचलित थी और अब भी अनेक जातियों में प्रचलित है। हमारे देश में यह कृष्ण-लीला और राम-लीला आदि के रूप में अब भी वर्तमान है। ये लीलाएँ साधारण स्वाँगों का परिवर्तित और विकसित रूप हैं और इनमें भी नाटकों की सृष्टि का रहस्य भरा हुआ है।

वीर पूजा

हम ऊपर कह आए हैं कि हमारे यहाँ का नाटक शब्द संस्कृत की नट् धातु से निकला है, जिसका अर्थ नाचना है। संसार की भिन्न भिन्न जातियों के नाटकों का प्राचीन इतिहास भी यही बतलाता है कि नाटक की सृष्टि वास्तव में नृत्य से, और उसके साथ ही साथ सङ्गीत से भी, हुई है। मनुष्य जब बहुत प्रसन्न होता है, तब नाचने और गाने लगता है। जब हम किसी की बहुत अधिक प्रसन्नता सूचित करना चाहते हैं, तब

हम कहते हैं कि वह मारे खुशी के नाच उठा। दूसरों के आदर-सत्कार और प्रसन्नता के लिये भी उसके सामने नाचने और गाने की प्रथा बहुत पुरानी है। हमारे यहाँ पार्वती के सामने शिव का और ब्रज की गोपियों के साथ कृष्ण का नृत्य बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हजरत दाऊद भी ईसा मसीह के सामने नाचे थे। किसी माननीय और प्रतिष्ठित अभ्यागत के आदर के लिये नृत्य-गीत का आयोजन करने की प्रथा अब भी सभ्य और असभ्य सभी जातियों में प्रचलित है। प्राचीन काल में जब योद्धा लोग विजय प्राप्त करके लौटते थे, तब वे स्वय भी नाचते गाते थे और उनका सत्कार करने के लिये नगर-निवासी भी उनके सामने आ कर नाचते गाते थे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि युद्ध-क्षेत्र में वीर और योद्धा लोग जो कृत्य करके आते थे, उन कृत्यों का अभिनय भी नृत्य गीत के उन उत्सवों के समय हुआ करता था। मृतकों और विशेषत वीर मृतकों के उद्देश से नाचने की प्रथा बरमा, चीन, जापान आदि अनेक देशों में प्रचलित थी। जो योद्धा देश, जाति अथवा धर्म के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहकर प्राण देते थे, उनकी स्मृति बनाए रखने का उन दिनों यही एक साधन माना जाता था। उक्त देशों के नाटकों का आरभ इन्हीं नृत्यों से हुआ है, क्योंकि उन देशों के निवासी उस नृत्य के समय तरह तरह के चेहरे लगाकर स्वाँग बनाते थे और उन वीर मृतकों के वीरतापूर्ण कृत्यों का अभिनय करते थे। उन नृत्यों में कहीं कहीं, जैसे जापान और जावा आदि देशों में, कुछ कथोपकथन भी होते थे, जिनसे उनको एक प्रकार से नाटक का ही रूप प्राप्त हो जाता था। जापान में तो आज तक

इस प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं। आजकल भी जापान में जो नृत्य होता है, वह किसी न किसी ऐतिहासिक घटना अथवा कथानक से ही सम्बन्ध रखता है। ऐसे नृत्य प्राय बड़े बड़े देव मन्दिरों में होते हैं, जिनमें उन मन्दिरों के पुजारी भी अभिनय करते हैं। अभिनय के समय पात्र चेहरे लगाकर स्वाँग भी बनते हैं। तात्पर्य यह कि जापान तथा दूसरे अनेक देशों के नाटकों की सृष्टि इसी प्रकार के नृत्यों से हुई है। जापानी भाषा में ऐसे नाटकों को "नो" कहते हैं, जिसका अर्थ है दु खान्त अथवा वियोगात नाटक। दक्षिण अमेरिका के पेरू, बोलीविया और ब्रेजिल आदि देशो में अब तक इसी प्रकार के नृत्य होते हैं, जिनमें पात्र चेहरे लगाकर मृत पुरुषो का अभिनय करते हैं। इनके कथोपकथन भी उन्हीं मृत आत्माओं की जीवन-सबधी घटनाओं से सबद्ध होते हैं। एलास्का प्रदेश के जगली एस्किमो भी प्रति वर्ष इसी प्रकार के नृत्य और अभिनय करते हैं, जिनमें पात्रों को पशुओं आदि के चेहरे लगाने पडते हैं। ये नृत्य इस उद्देश से होते हैं कि मृतकों की आत्माएँ प्रसन्न हों और वर्ष भर खूब शिकार मिलें। पश्चिमी अफ्रिका के बेल्जियन कागो आदि कुछ प्रदेशों की जगली जातियों में तो इस प्रकार के नृत्य और अभिनय इतने अधिक प्रचलित है कि उनके धर्माचार्यों आदि का व्यवसाय नाट्य ही रह गया है। नृत्य ही नाटक का मूल है इस बात का एक अच्छा प्रमाण कबोडिया की राजकीय रगशाला भी है, जिसका नाम "रग-रम" है और जिसका अर्थ उस देश की भाषा मे नृत्यशाला है। यहाँ हम प्रसंगवश यह भी बतला देना चाहते हैं कि कबोडिया की रगशालाओं में रामायण का भी

अभिनय होता है। कम्बोडिया में रामायण का बहुत अधिक आदर है। वहाँ के अन्यान्य नाटकों में तो अभिनय और गाने-नाचने आदि का सारा काम स्त्रियाँ ही करती हैं, पर रामायण के अभिनय में केवल पुरुष ही पात्र रहते हैं, उनमें कोई स्त्री नहीं सम्मिलित होने पाती।

यह तो हुई नाटक की ठेठ उत्पत्ति और विकास की बात। अब हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के भिन्न भिन्न देशों में उनके नाट्य साहित्य की सृष्टि कब और कैसे हुई। यह तो एक सर्व सिद्ध बात है कि नाटकों की उत्पत्ति गीतों अथवा गीति काव्यों और कथोपकथन से हुई। अब यदि हमें यह मालूम हो जाय कि इन गीति-काव्यों और कथोपकथन का आरंभ सब से पहले किस देश में हुआ, तो हमें अनायास ही इस बात का प्रमाण मिल जायगा कि संसार के किस देश में सब से पहले नाटकों की सृष्टि हुई। इस दृष्टि से देखते हुए केवल हमें ही नहीं, बल्कि संसार के अनेक बड़े बड़े विद्वानों को भी विवश होकर यही मानना पड़ता है कि भारतवर्ष जहाँ और अनेक बातों में आविष्कर्ता और पथप्रदर्शक था, वहाँ नाटकों, गीति काव्यों और कथोपकथन संबंधी साहित्य उत्पन्न करने में भी वह प्रथम और अग्रगामी था। संसार का सबसे प्राचीन साहित्य हमारे यहाँ के वेद हैं और उन वेदों में भी सब से अधिक महत्वपूर्ण तथा प्राचीन ऋग्वेद है। सारा ऋग्वेद ऐसे ही मंत्रों से भरा पड़ा है जिनमें इंद्र, सूर्य, अग्नि, उष, मरुत् आदि देवताओं से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ की गई हैं। इन प्रार्थना-मंत्रों की गणना साहित्य की

भारतीय नाट्य साहित्य की सृष्टि

काव्यों में की जाती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में विश्वामित्र, वशिष्ठ, सुदास आदि अनेक ऋषियों और राजाओं आदि के यशोगान भी हैं जो महाकाव्यों के मूल हैं और जिनमें महाकाव्य की सामग्री भरी है। साथ ही ऋग्वेद में सरमा और पणिस, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी आदि के, गीतों में, कुछ कथोपकथन या सम्वाद आदि भी हैं। इस प्रकार नाटक के तीनों मूल अर्थात् गीति-काव्य, आख्यान और कथोपकथन या सम्वाद ससार की सब से प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में वर्तमान हैं। इसी आधार पर मेकडॉनल और कीथ आदि विद्वानों ने यह स्थिर किया है कि ससार मे सब से पहले नाटकों का आरम्भ भारतवर्ष ही हुआ। मैक्समूलर, पिशल, लेवी आदि का भी यही मत है। पर रिजवे ने नाटको और नृत्यों के सम्बन्ध में जो पुस्तक लिखी है, उसमें इस मत का केवल इसी आधार पर खडन किया है कि नृत्य गीत और सम्वाद आदि के रहते हुए भी जब तक किसी के कृत्यों का अभिनय या नकल न हो, तब तक यथार्थ नाटक की सृष्टि नहीं होती। रिजवे का यह कथन युक्तियुक्त है, पर उसने केवल पक्षपातवश ही यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि जो लोग स्वय उसी के कथनानुसार, नृत्य और गीत आदि के बड़े प्रेमी और प्रधान आविष्कर्ता थे और जिन्होंने कथोपकथन या सम्वाद तक को अपने साहित्य में स्थान दिया था, वे केवल अभिनय को किस प्रकार छोड सकते थे। जहाँ तक सम्भव था, वहाँ तक खींच-तान करके रिजवे ने अपनी ओर से यह सिद्ध करना चाहा है कि भारत मे नाटको की सृष्टि बहुत पीछे हुई है। पर फिर भी उन्होंने भारतीय नाटकों की सृष्टि का कोई समय निर्धारित

किया है, और अन्त में एक प्रकार से यह बात भी मान ली है कि पाणिनि और पतंजलि के समय तक भारत में नाटकों का यथेष्ट विकास हो चुका था। अब विचारवान् पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं कि नाटक सरीखे गूढ और गहन विषय का पूर्ण विकास होने में, और वह भी पाणिनि-काल से पहले, कितना समय लगा होगा, और जिस नाटक का पाणिनि के समय में पूर्ण विकास हो चुका था, भारत में उसका आरंभ या बीजारोपण कितने दिनों पहले हुआ होगा। स्वयं रिजवे ने ही अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि भारत की अनेक बातों के सम्बन्ध में लिखित प्रमाण नहीं मिलते। ऐसी दशा में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों, सम्वादों और आख्यानों तथा दूसरे अनेक प्रमाणों से, जिनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे, यह माना जा सकता है कि भारत में नाटक का सूत्रपात ऋग्वेद काल के कुछ ही पीछे, पर लगभग वैदिक काल में ही हो गया था।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, भारतवर्ष के नाटकों का बिलकुल पूर्व और प्रारंभिक रूप ऋग्वेद में प्रार्थना-मन्त्रों और संवादों के रूप में मिलता है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत में अभिनय ने अपना पूर्ण रूप किस समय धारण किया, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाणिनि से कई हजार वर्ष पहले इस देश में नाटकों का पूर्ण रूप से प्रचार हो चुका था और अनेक अच्छे अच्छे नाटक बन भी चुके थे; क्योंकि पाणिनि ने अपने व्याकरण में नाट्य शास्त्र के शिलालिन् और कृशाश्व इन दो आचार्यों के नाम दिए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय तक इस देश के नाटक इतनी उन्नत

अवस्था को पहुँच चुके थे कि उसके लक्षण-ग्रन्थ तक बन चुके थे। नाट्य कला की बिलकुल आदिम अवस्था में अन्यान्य देशों की भाँति इस देश के नट भी केवल नाचते और गाते ही रहे होंगे, परन्तु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाटक अपनी पूर्ण उन्नतावस्था को पहुँच चुके थे, अर्थात् उस समय तक इस देश में नाचने और गाने के अतिरिक्त नाटकों में संवाद, भाव भंगी और वेषभूषा आदि का भी पूर्ण रूप से समावेश हो चुका था और सर्वाङ्गपूर्ण अभिनय होने लग गए थे। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते हुए पतंजलि अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि रंगशालाओं में अभिनय होते थे और दर्शक लोग वे अभिनय देखने के लिये जाया करते थे। उन दिनों कंसवध और बलि-वध आदि तक के अभिनय होने लग गए थे। इससे सिद्ध होता है कि ईसा से सैकड़ों हजारों वर्ष पहले इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था। हरिवंश पुराण महाभारत के थोड़े ही दिनों पीछे का बना है। उसमें लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में कौवेर-भाभिसार नाटक खेला गया था, जिसकी रंगभूमि में कैलास पर्वत का दृश्य दिखाया गया था। महावीर स्वामी के लगभग दो सवा दो सौ वर्ष पीछे भद्रबाहु स्वामी हुए थे जिन्होंने कल्पसूत्र के अपने विवेचन में जडवृत्ति के साधुओं का उल्लेख करते हुए एक साधु की कथा दी है। एक बार एक साधु कहीं से बहुत देर कर के आया। गुरु के पूछने पर उसने कहा कि मार्ग में नटों का नाटक हो रहा था, वही देखने के लिये मैं ठहर गया था। गुरु ने कहा कि साधुओं को नटों के नाटक आदि नहीं देखने चाहिएँ। कुछ दिनों पीछे उस साधु को एक बार फिर अपने आश्रम में आने में विलम्ब हु

गया। इस बार गुरु के पूछने पर उसने कहा कि एक स्थान पर नटियों का नाटक हो रहा था, मैं वही देखने लग गया था। गुरु ने कहा कि तुम बड़े जड़बुद्धि हो। तुम्हें इतनी भी समझ नहीं कि जिसे नटों का नाटक देखने के लिये निषेध किया जाय, उसके लिये नटियों का नाटक देखना भी निषिद्ध है। इन सब बातों के उल्लेख में हमारा यही तात्पर्य है कि आज से लगभग ढाई तीन हजार वर्ष पहले भी इस देश में ऐसे ऐसे नाटक होते थे, जिन्हें सर्वसाधारण बहुत सहज में और प्रायः देखा करते थे। कौबेरभाभिसार सरीखे नाटकों का अभिनय करना, जिनमें कैलास के दृश्य दिखाए जाते हों और ऐसी रंगशालाएँ बनाना जिनमें राजा रथ पर आते और आकाशमार्ग से जाते हों (दे० "विक्रमोर्वशी"), सहज नहीं है। नाट्य कला को उन्नति की इस सीमा तक पहुँचने में सैंकड़ों हजारों वर्ष लगे होंगे। कौबेरभाभिसार के संबंध में हरिवंश पुराण में लिखा है कि उसमें प्रद्युम्न ने नलकूबर का, शूर ने रावण का, साम्ब ने विदूषक का, गद ने पारिपार्श्वक का और मनोवती ने रंभा का रूप धारण किया था और सारे नाटक का अभिनय इतनी उत्तमता के साथ किया था कि उसे देखकर वज्रनाभ आदि दानव बहुत ही प्रसन्न हुए थे। यदि इस कथा को बिलकुल सच मान लिया जाय, तब तो यही सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के समय में भी भारत में अच्छे अच्छे नाटकों का अभिनय होता था।

भारतवर्ष में नाट्य शास्त्र के प्रधान आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। उनका नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी सूत्रबद्ध ग्रन्थ इस समय लोगों को उपलब्ध है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थ में शिलालिन्

अवस्था को पहुँच चुके थे कि उसके लक्षण-ग्रन्थ तक बन चुके थे। नाट्य कला की बिलकुल आदिम अवस्था में अन्यान्य देशों की भाँति इस देश के नट भी केवल नाचते और गाते ही रहे होंगे, परंतु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाटक अपनी पूर्ण उन्नतावस्था को पहुँच चुके थे, अर्थात् उस समय तक इस देश में नाचने और गाने के अतिरिक्त नाटकों में संवाद, भाव भंगी और वेषभूषा आदि का भी पूर्ण रूप से समावेश हो चुका था और सर्वांगपूर्ण अभिनय होने लग गए थे। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते हुए पतंजलि अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि रंगशालाओं में अभिनय होते थे और दर्शक लोग वे अभिनय देखने के लिये जाया करते थे। उन दिनों कंसवध और बलि वध आदि तक के अभिनय होने लग गए थे। इससे सिद्ध होता है कि ईसा से सैकड़ों हजारों वर्ष पहले इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था। हरिवंश पुराण महाभारत के थोड़े ही दिनों पीछे का बना है। उसमे लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में कौबेर भाभिसार नाटक खेला गया था, जिसकी रंगभूमि में कैलास पर्वत का दृश्य दिखाया गया था। महावीर स्वामी के लगभग दो सवा दो सौ वर्ष पीछे भद्रबाहु स्वामी हुए थे, जिन्होंने कल्पसूत्र के अपने विवेचन में जड़वृत्ति के साधुओं का उल्लेख करते हुए एक साधु की कथा दी है। एक बार एक साधु कहीं से बहुत देर कर के आया। गुरु के पूछने पर उसने कहा कि मार्ग में नटों का नाटक हो रहा था, वही देखने के लिये मैं ठहर गया था। गुरु ने कहा कि साधुओं को नटों के नाटक आदि नहीं देखने चाहिएँ। कुछ दिनों पीछे उस साधु को एक बार फिर अपने आश्रम में आने में विलम्ब हो

कुछ संदेह हुआ। एक दिन शिवजी भी छिपकर पार्वती के पीछे पीछे मलय पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पार्वतीजी की वह पुतली देखी। वह पुतली सजीव न होने पर भी बिलकुल सजीव जान पडती थी। अत शिवजी ने प्रसन्न होकर उस पुतली को सजीव कर दिया था। महाभारत में भी कठपुतलियों का उल्लेख है। जिस समय कौरवों से युद्ध करने के लिये अर्जुन जा रहे थे, उस समय उत्तरा ने उनसे कहा था कि मेरे लिये अच्छी अच्छी पुतलियाँ या गुडियाँ लेते आना। कथा-सरित्सागर में एक स्थान पर लिखा है कि असुर मय की कन्या सोमप्रभा ने अपने पिता की बनाई हुई बहुत सी कठपुतलियाँ रानी कलिंगसेना को दी थीं। उनमे से एक कठपुतली ऐसी थी जो खूँटी दबाते ही हवा मे उडने लगती थी और कुछ दूर पर रखी हुई छोटी मोटी चीजें तक उठा लाती थी। उनमें से एक पुतली पानी भरती थी, एक नाचती थी और एक बात चीत करती थी। उन पुतलियों को देखकर कलिंगसेना इतनी मोहित हो गई थी कि वह दिन रात उन्हीं के साथ खेला करती थी और खाना-पीना तक छोड बैठी थी। यह तो सभी लोग जानते हैं कि कथा-सरित्सागर का मूल गुणाढ्य कृत बृहत्कथा है, जो बहुत प्राचीन काल में पैशाची मे लिखी गई थी, पर यह बृहत्कथा अब कहीं नहीं मिलती। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यही है कि गुणाढ्य के समय में भी भारत में ऐसी अच्छी अच्छी कठपुतलियाँ बनती थीं जो अनेक प्रकार के कठिन कार्य करने के अतिरिक्त मनुष्यों की भाँति बात चीत तक करती थीं। ये कठपुतलियाँ कोरी कवि कल्पना कदापि नहीं हो सकतीं। कथाकोष मे लिखा है कि राजा

और कृशाश्व का उल्लेख नहीं किया है, तथापि उस ग्रन्थ से यह अवश्य सूचित होता है कि उनसे भी पहले नाट्य-शास्त्र संबंधी अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। भरत ने अपने सूत्रों को जितना सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है और उनमें जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विवेचन किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि भरत से पहले इस देश में अनेक नाटक बन चुके थे और साथ ही नाट्य शास्त्र के कुछ लक्षण ग्रन्थ भी बन चुके थे। भरत ने उन्हीं नाटकों और लक्षण-ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन करके और उनके गुण-दोष का विवेचन करके अपना ग्रन्थ बनाया था।

अब हम नाटकों के सम्बन्ध में एक और बात का विवेचन करना चाहते हैं जिससे नाटकों की प्राचीनता और उनके प्रारंभिक रूप पर विशेष प्रकाश पड़ने की संभावना है।

कठपुतली का नाच — पाठकों में से बहुतों ने कठपुतली का नाच देखा होगा। संस्कृत में कठपुतली के लिये पुत्रिका, पुत्तली और पुत्तलिका आदि शब्दों का प्रयोग होता है, जिनका अर्थ होता है—छोटी बालिका। लैटिन भाषा में कठपुतली के लिये 'प्यूपा' अथवा 'प्यूपुल' आदि जो शब्द हैं, उनका भी यही अर्थ है। यह कठपुतली का नाच हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। प्राचीन भारत में ऊन, काठ, सींग और हाथी दाँत आदि की बहुत अच्छी पुतलियाँ बनती थीं। कहते हैं, पार्वती ने एक बहुत सुंदर पुतली बनाई थी। उस पुतली को वे शिवजी से छिपाना चाहती थीं, इसलिये उन्होंने उसे मलय पर्वत पर ले जाकर रक्खा था। पर उसे देखने और उसका शृंगार करने के लिये वे नित्य मलय पर्वत पर जाती थीं, जिससे शिवजी को

नाट्य-कला में उन्नति होती गई और अभिनय की प्रधानता बढ़ती गई, त्यों त्यों सूत्रधार का यह परिचय कम होता गया। बहुत प्राचीन नाटकों में सूत्रधार के उपरांत रंगमंच पर एक और व्यक्ति का प्रवेश होता था जो बिलकुल सूत्रधार के ही वेष में रहता था। ऐसे नाटकों में सूत्रधार केवल मंगलाचरण करके और कुछ गीत गाकर ही चला जाता था और नाटक के नाम, कर्त्ता तथा विषय आदि का परिचय यह स्थापक दिया करता था। धीरे धीरे नाटक से इस पुराने स्थापक का लोप हो गया और उसका काम भी केवल सूत्रधार ही करने लग गया। नाटकों के ये सूत्रधार और स्थापक शब्द भी हमारे नाटकों की प्राचीनता और उत्पत्ति से बहुत कुछ सम्बन्ध रखते हैं। जान पड़ता है कि भारत में सब से पहले कठपुतलियों का नाच आरंभ हुआ था। उन पुतलियों को रंगमंच पर यथा-स्थान रखने या सजानेवाला स्थापक कहलाता था, और जो व्यक्ति उन कठपुतलियों के धागे हाथ में पकड़कर उनको नचाता था, वह सूत्रधार कहलाता था। पीछे से इन्हीं सूत्रधार और स्थापक ने मिलकर ऐसी योजना की कि कठपुतलियों के स्थान पर नटों को रखा, और नाटक के नाच गाने तथा सम्वाद आदि का काम उन नटों से लिया जाने लगा। परन्तु सूत्रधार और स्थापक वही कठपुतलियों के नाचवाले थे। आगे चलकर जब नाटकों और रंगशालाओं की यथेष्ट उन्नति हुई, तब रंगमंच पर सजीव नटों के आ जाने के कारण स्थापक की कोई आवश्यकता न रह गई और केवल सूत्रधार ही रह गया, जो नाटक और रंगशाला का प्रधान व्यवस्थापक था और जिसका रहना परम आवश्यक तथा अनिवार्य था।

सुदर ने अपने पुत्र अमरचद्र के विवाह मे कठपुतलियों का नाच कराया था। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल मे ही भारत में कठपुतलियो का नाच बहुत उन्नत दशा को पहुँच चुका था। राजशेखर ने दसवी शताब्दी के आरभ में जो बालरामायण नाटक लिखा था, उसके पाँचवें अक में भी कठपुतलियों का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि असुर मय के प्रधान शिष्य विशारद ने दो कठपुतलियाँ बनाई थीं, जिनमें से एक सीता की और दूसरी सिदूरिका की प्रतिकृति थी। ये दोनों कठपुतलियाँ सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाएँ बहुत अच्छी तरह बोल सकती थीं। इन दोनों का पारस्परिक वार्तालाप इतना स्पष्ट और सुन्दर था कि रावण ने इन कठपुतलियों को ही सीता और सिदूरिका समझ लिया था। उसे अपनी भूल उस समय मालूम हुई, जब उसने सीता की प्रतिकृति को गले से लगाया। राजशेखर के इस उल्लेख मे कम से कम इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि दसवीं शताब्दी में भारत की रगशालाओं मे साधारण नाटक के अतिरिक्त कठपुतलियो तक का प्रवेश कराया जाता था।

सूत्रधार और स्थापन

सस्कृत के सभी और हिन्दी के भी प्राय नाटकों मे सब से पहले सूत्रधार का प्रवेश होता है। यह सूत्रधार मानों रगशाला का व्यवस्थापक और स्वामी होता है। यह सब से पहले रगशाला में आकर कोई प्रार्थना-गीत गाता है और तब किसी न किसी रूप में दर्शकों को नाटक के नाम, कर्ता और विषय आदि का परिचय कराता है। यह नाटक का एक प्रकार का परिचय और प्रास्थन होता है। प्राचीन काल में यह परिचय बहुत बड़ा होता था, पर ज्यों ज्यों

का ही अनुकरण था। उनका यह भी मत है कि जर्मन तथा अँगरेजी नाटकों में जो क्लाउन या मसखरे होते हैं, वे भी भारतीय नाटकों के विदूषकों के अनुकरण पर ही रखे गए है, क्योंकि विदूषकों की सब से अधिक प्रधानता, और वह भी बहुत प्राचीन काल से, केवल भारतीय नाटकों में ही पाई जाती है। अस्तु, अब हम संक्षेप में भारतीय नाट्य-कला के सम्बन्ध की कुछ मुख्य बातें दे देना चाहते हैं।

भारतीय नाट्य शास्त्र का विकास

यों तो भारत में नाट्य कला का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है, जिसका कुछ उल्लेख ऊपर हो चुका है, पर अभी तक उसके प्राचीन इतिहास का कोई ठीक और क्रमबद्ध विवरण नहीं दिया जा सकता। उसका क्रमबद्ध इतिहास प्राय प्रसिद्ध भरत मुनि के समय से ही मिलता है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भरत मुनि ने जो नाट्य शास्त्र लिखा है, वह नाटक का लक्षण ग्रन्थ है और वह भी कई लक्षण ग्रन्थो के अनन्तर लिखा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि नाटक सम्बन्धी लक्षण-ग्रंथ उसी समय लिखे गए होंगे, जब देश में नाटकों और नाट्य कला का पूर्ण प्रचार हो चुका होगा, क्योंकि बिना अनेक नाटकों को रंगमंच पर देखे अथवा पढे उनके गुण दोषो का विवेचन हो ही नहीं सकता था और न उनके सम्बन्ध में लक्षण-ग्रंथ ही बन सकते थे। भरत को कालिदास तक ने आचार्य और माननीय माना है। अनेक प्रमाणो से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि भरत का समय ईसा से कम से कम तीन चार सौ वर्ष पहले का तो अवश्य ही है, इससे और पहले चाहे जितना हो।

के स्थान पर नाचने-गानेवाले रखे गए थे, जिनका नट कहलाना भी स्वाभाविक ही था। कठपुतलियों के नाच और नाटक में कितना अधिक सम्बन्ध है, इसका प्रमाण इस बात से भी मिल सकता है कि आजकल भी चीन में नाटक से पहले कठपुतलियों का नाच होता है।

आगे चलकर हमारे यहाँ के नाटकों ने एक और उन्नति की थी। हमारे यहाँ छाया-नाटकों का भी प्रचार हुआ था। छाया-नाटक सम्भवत आजकल के सिनेमा के मानों मूल रूप थे। उनमें चमडे की कठपुतलियाँ बनाकर प्रकाश के आगे साधारण कठपुतलियों की तरह नचाते थे और उनकी छाया आगे पड़े हुए परदे पर पड़ती थी। दर्शक लोग परदे पर पड़नेवाली उसी छाया के रूप में नाटक देखते थे। इस प्रकार छोटी छोटी पुतलियों की सहायता से परदे पर सजीव मनुष्यों की आकृतियाँ दिखाई जाती थीं। ऐसे छाया-अभिनयो के लिये नाटक भी अलग बनते थे, जिनके मुख्य आधार प्राय रामायण और महाभारत के आख्यान आदि हुआ करते थे। ऐसे नाटकों में सुभट कृत दूतागद, भवभूति-कृत महावीरचरित, राजशेखर-कृत बालरामायण और जयदेव कृत प्रसन्नराघव आदि मुख्य हैं। भारत में, और विशेषत दक्षिण भारत में, ऐसे नाटको का अभिनय सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक होता था। जावा द्वीप में ऐसे छाया-नाटकों का प्रचार, बहुत दिनों पहले, भारत की देखा-देखी ही हुआ था। डा० पिशल का तो यहाँ तक कहना है कि मध्य युग में युरोप में कठपुतलियों आदि का जो नाच हुआ करता था, वह भी भारत

छाया नाटक

दे देना आवश्यक और उपयोगी जान पडता है, क्योंकि इससे इस बात का पता चल सकता है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी भारतवर्ष मे नाट्य-शास्त्र की कितनी अधिक उन्नति हो चुकी थी।

नाट्य शास्त्र मे लिखा है कि विकृष्ट प्रेक्षगृह सब से अच्छा होता है और वह देवताओं के लिये है। उसकी लवाई १०८ हाथ होती है। दूसरा चतुरश्र मध्यम श्रेणी का होता है और उसकी लबाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ होती है। तीसरा त्र्यश्र बिलकुल त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता है और यह निकृष्ट माना जाता है। चतुरश्र राजाओं, धनवानों तथा सर्व साधारण के लिये होता है और त्र्यश्र में केवल आपस के थोड़े से मित्र या परिचित ही बैठकर अभिनय देखते हैं। सभी प्रकार के प्रेक्षगृहों का आधा स्थान तो दर्शकों के लिये और आधा अभिनय और नटों आदि के लिये नियत रहता है। रगमच का सब से पिछला भाग रगशीर्ष कहलाता है जो छ खभों पर बना होता है और जिसमें नाट्यवेद के देवता ब्रह्मा का पूजन होता है। इसमें से नेपथ्यगृह में जाने के लिये दो द्वार होते हैं। रगमच के खभों और दीवारों आदि पर बहुत अच्छी नक्काशी और चित्रकारी होनी चाहिए और स्थान स्थान पर वायु तथा प्रकाश आने के लिये झरोखे होने चाहिएँ। रगमच ऐसा होना चाहिए जिसमें आवाज अच्छी तरह गूँज सके। वह दो खडों का भी होता है। ऊपरवाले खड में स्वर्ग आदि के दृश्य दिखलाए जाते हैं। रगमच के खभों पर नक्काशी के साथ पशुओं, पक्षियों आदि के चित्र खुदे होने चाहिएँ और भीतों पर पहाड़ों, जगलों, नदियों, मदिरों, अट्टा-

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में नाटकों और रंगशालाओं का जो वर्णन मिलता है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस समय इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार था और बहुत से लोग नट का काम करते थे। अर्थ-शास्त्र का समय भी ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले का है। प्राय उसी समय के लगभग भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र की भी रचना की थी। नाट्य शास्त्र के आरंभ में कहा गया है कि एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुःखी हुए। इस पर इन्द्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए, जिससे शूद्रों तक का चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से नाट्य-शास्त्र रूपी पाँचवें वेद की रचना की। इस नए वेद के लिये ऋग्वेद से सम्वाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिए गए थे। इस कथा का और चाहे कोई अर्थ हो या न हो, पर इतना अर्थ अवश्य है कि नाट्यशास्त्र की चारों बातें चारों वेदों से ली गई हैं। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ के नाटक का ऋग्वेद के सम्वादों या आख्यानों के साथ भी कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

भारतीय रंगशाला

भरत कृत नाट्य-शास्त्र के दूसरे अध्याय में यह बतलाया गया है कि रंगशालाएँ, जिनको उन दिनों प्रेक्षगृह कहते थे, कितने प्रकार की होती थीं और किस प्रकार बनाई जाती थीं। नाट्य शास्त्र के अनुसार नाट्यशालाएँ या प्रेक्षगृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। तीनों प्रकार के प्रेक्षगृहों का यहाँ संक्षेप में कुछ वर्णन

बतलाया जाता है। इसके उपरांत स्थापक आता है जो कुछ वैशिष्ट नृत्यों के उपरांत नाटक आरम्भ करता है। इस बीच में वाद्य बराबर बजते रहते हैं।

आगे चलकर नाट्यशास्त्र में यह बतलाया गया है कि नट कैसे होने चाहिएँ और उनमें किन किन गुणों के होने की आवश्यकता है, भिन्न भिन्न अवसरों पर उनके वस्त्र और वेष भूषा आदि कैसे होनी चाहिए नाटक कैसे और कितने प्रकार के होते हैं, वाद्यों के कितने भेद और प्रकार है, आदि। उसमें यह भी बतलाया गया है कि किरात, बर्बर, अंध्र, द्रविड, पुलिंद, काशी, कोशल और दाक्षिणात्य आदि जातियों के पात्रों का अभिनय करनेवाले नटों का रंग काला कर देना चाहिए, शकों, यवनों और वाह्लीकों आदि का अभिनय करनेवाले नटों का रंग सफेद करना चाहिए आदि आदि। दाक्षिणात्य, आवन्त, उड्रमागधी और पांचालमध्य ये नाटकों की चार रीतियाँ गिनाई गई हैं और बतलाया गया है कि किन किन देशों के लोग किस रीति का नाटक पसन्द करते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय की सात प्राकृत भाषाएँ और पाँच विभाषाएँ भी गिनाई गई हैं। और भी अनेक ऐसी गूढ बातें हैं जिनका आजकल समझना ही बहुत कठिन है और जिनको समझने के लिये बडे बडे पण्डितों को भी वर्षों उसका अध्ययन करना पडेगा।

नाट्य-शास्त्र की प्राचीनता

अब हम संक्षेप में भरत मुनि के नाट्य शास्त्र की प्राचीनता का कुछ विचार करके यह विषय समाप्त करते हैं। ग्रन्थ में कुछ प्राचीन सूत्र भी दिए गए हैं जिनके साथ भाष्य, कारिका, निघंटु और निरुक्त भी हैं।

लिकाओ आदि के सुन्दर चित्र बने होने चाहिएँ। भिन्न भिन्न वर्णों के दर्शको के लिये भिन्न भिन्न स्थान होने चाहिएँ। ब्राह्मणों के बैठने का स्थान सब से आगे होना चाहिए और सकेत के लिये वहाँ सफेद रग के खभे होने चाहिएँ। उनके पीछे क्षत्रियों के बैठने का स्थान हो, जिसके खभे लाल हों। उनके पीछे उत्तर पश्चिम में वैश्यों के लिये और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिये स्थान हो, और इन दोनो स्थानो के खभे क्रमश पीले और नीले हो। थोडा सा स्थान अन्य जातियो के लिये भी रक्षित रहना चाहिए। यदि अधिक स्थान की आवश्यकता हो तो ऊपर दूसरा खड भी बना लेना चाहिए।

भारतीय नाट्य कला की कुछ बातें

नाट्य-शास्त्र में यह भी बतलाया गया है कि नाटक का आरभ किस प्रकार होना चाहिए। नाटक आरभ होने से पहले नटो और सूत्रधार आदि को जो क्रियाएँ करनी पडती हैं, वे सब पूर्वरग कहलाती हैं। पूर्वरग मे वाद्य आदि यथास्थान रखे जाते हैं, स्वर आदि ठीक करने के लिये सब वाद्य मिलाए जाते हैं, गायक लोग अपने स्थान पर खडे किए जाते हैं, और कुछ समय तक केवल वाद्य बजने के उपरात उनके साथ कुछ गान होता है। ये सब कृत्य नेपथ्य मे होते हैं, दर्शको के सामने नहीं होते। इन सब कृत्यों के उपरात दो आदमियों के साथ हाथ में पुष्प लिए हुए सूत्रधार आता है और ब्रह्मा तथा दसों दिग्पालो का पूजन करता है। तदुपरात नादी आकर नादीपाठ करता है, और तब प्ररोचन होता है, जिसमें दर्शको से नाटक को ध्यानपूर्वक देखने की प्रार्थना की जाती है और उनको सक्षेप में नाटक का विषय

अधिकता हो गई होगी और लोगों की रुचि किसी नए ढग के प्रेक्षगृह की ओर भी हुई होगी। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, यूनान में सब से पहले ईसा से प्राय छ सौ वर्ष पूर्व नाटकों का लिखा जाना आरभ हुआ था। उस समय वहाँ दो तीन आदमी मिलकर गाडी पर सवार हो जाते थे और गाँव गाँव घूमकर लोगों को अभिनय दिखाते फिरते थे। पर भारत में उसी समय के लगभग नाट्यशास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था कि नाटक के सम्बन्ध में कई लक्षण ग्रथ बन गए थे, उनके सम्बन्ध में अनेक गूढ और जटिल नियमों की रचना हो चुकी थी और सैंकडों हजारों दर्शकों के बैठने के योग्य अनेक नाट्यशालाएँ बन चुकी थीं। कदाचित अब इस बात के प्रमाण की और कोई आवश्यकता न रह गई होगी कि भारत में नाटक का आरभ प्राय और सभी देशों से पहले और बिलकुल स्वतत्र रूप से हुआ था।

भारतीय नाट्य-कला का इतिहास

अब हम सक्षेप में भारतीय नाट्य कला का कुछ इतिहास भी दे देना आवश्यक समझते हैं। मिस्रियों और यूनानियों की भाति भारतीयों की नाट्य कला का मूल भी धार्मिक ही है, पर उसमें औरों की अपेक्षा कुछ विशेषता और प्राचीनता है। यूनानी नाटकों का, और उनमें भी सब से प्राचीन दु खात नाटकों का आरभ वहाँ के महाकाव्यों और गीति-काव्यों से हुआ था, पर भारतीय नाटकों का आरभ यहाँ के गद्य और गीति-काव्यों से हुआ था। साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति काव्य और तब महाकाव्य आते हैं। इससे सिद्ध होता है

इससे सिद्ध होता है जिस समय इस श्लोकबद्ध ग्रन्थ की रचना हुई थी, उस समय तक उन प्राचीन सूत्रों पर भाष्य और कारिकाएँ आदि भी लिखी जा चुकी थीं। ग्रन्थ में जिन अनेक जातियों के नाम दिए हैं, वे सब जातियाँ बहुत ही प्राचीन हैं। उनमें से कुछ जातियाँ तो बुद्ध के जीवन-काल में वर्तमान थीं और कुछ का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों तक में पाया जाता है। इसी प्रकार उसमें कुछ ऐसे देशों का भी उल्लेख है जिनके नाम ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों तक में आए हैं। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ़ में दो पहाड़ी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में एक प्रेक्षकगृह बना है जो कई बातों में यूनानी नाट्यशालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षगृह में कुछ चित्रकारी भी है जो बहुत दिनों की होने के कारण बहुत कुछ मिट गई है, और जो कई बातों में भरत के नाट्यशास्त्र में बतलाई हुई चित्रकारी से मिलती है। प्रेक्षगृह के सम्बन्ध में पास की दूसरी गुफा में अशोक लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि यह शिलालेख और गुफा ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नामक किसी देवदासी ने नर्तकियों के लिये बनवाई थी। अनुमान होता है कि उन दिनों जहाँ भारत में देशी ढग के अनेक प्रेक्षगृह बनते थे, वहाँ किसी नर्त्तकी ने यूनानी ढग की नाट्यशाला भी, एक नई चीज समझकर, बनवा ली होगी। पहली गुफा में तो नाटक आदि होते होंगे और दूसरी गुफा मे नट और नर्त्तकियाँ आदि रहती होंगी। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय ढग के प्रेक्षगृहों के रहते हुए भी यूनानी ढग की नाट्यशाला तभी बनी होगी जब भारतीय ढग के प्रेक्षगृहों की बहुत

अधिकता हो गई होगी और लोगों की रुचि किसी नए ढंग के प्रेक्षागृह की ओर भी हुई होगी। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, यूनान में सब से पहले ईसा से प्राय छ सौ वर्ष पूर्व नाटकों का लिखा जाना आरम्भ हुआ था। उस समय वहाँ दो तीन आदमी मिलकर गाडी पर सवार हो जाते थे और गाँव गाँव घूमकर लोगों को अभिनय दिखाते फिरते थे। पर भारत में उसी समय के लगभग नाट्यशास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था कि नाटक के सम्बन्ध में कई लक्षण ग्रंथ बन गए थे, उनके सम्बन्ध में अनेक गूढ और जटिल नियमों की रचना हो चुकी थी और सैकड़ों हजारों दर्शकों के बैठने के योग्य अनेक नाट्यशालाएँ बन चुकी थीं। कदाचित् अब इस बात के प्रमाण की और कोई आवश्यकता न रह गई होगी कि भारत में नाटक का आरम्भ प्राय और सभी देशों से पहले और बिलकुल स्वतंत्र रूप से हुआ था।

भारतीय नाट्य-कला का इतिहास

अब हम सक्षेप में भारतीय नाट्य-कला का कुछ इतिहास भी दे देना आवश्यक समझते हैं। मिस्त्रियों और यूनानियों की भांति भारतीयों की नाट्य कला का मूल भी धार्मिक ही है, पर उसमें औरों की अपेक्षा कुछ विशेषता और प्राचीनता है। यूनानी नाटकों का, और उनमें भी सब से प्राचीन दु खात नाटकों का आरंभ वहाँ के महाकाव्यों और गीति-काव्यों से हुआ था, पर भारतीय नाटकों का आरंभ यहाँ के गद्य और गीति-काव्यों से हुआ था। साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति काव्य और तब महाकाव्य आते हैं। इससे सिद्ध होता है

इससे सिद्ध होता है जिस समय इस श्लोकबद्ध ग्रन्थ की रचना हुई थी, उस समय तक उन प्राचीन सूत्रों पर भाष्य और कारिकाएँ आदि भी लिखी जा चुकी थीं। ग्रन्थ मे जिन अनेक जातियो के नाम दिए हैं, वे सब जातियाँ, बहुत ही प्राचीन हैं। उनमें से कुछ जातियाँ तो बुद्ध के जीवन-काल मे वर्तमान थीं और कुछ का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों तक में पाया जाता है। इसी प्रकार उसमें कुछ ऐसे देशों का भी उल्लेख है जिनके नाम ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों तक मे आए हैं। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ मे दो पहाडी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में एक प्रेक्षकगृह बना है जो कई बातो मे यूनानी नाट्यशालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षगृह में कुछ चित्रकारी भी है जो बहुत दिनों की होने के कारण बहुत कुछ मिट गई है, और जो कई बातों में भरत के नाट्यशास्त्र में बतलाई हुई चित्रकारी से मिलती है। प्रेक्षगृह के सम्बन्ध में पास की दूसरी गुफा में अशोक लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि यह शिलालेख और गुफा ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नामक किसी देवदासी ने नर्तकियो के लिये बनवाई थी। अनुमान होता है कि उन दिनों जहाँ भारत में देशी ढग के अनेक प्रेक्षगृह बनते थे, वहाँ किसी नर्तकी ने यूनानी ढग की नाट्यशाला भी, एक नई चीज समझकर, बनवा ली होगी। पहली गुफा में तो नाटक आदि होते होंगे और दूसरी गुफा में नट और नर्तकियाँ आदि रहती होंगी। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय ढग के प्रेक्षगृहों के रहते हुए भी यूनानी ढग की नाट्यशाला तभी बनी होगी जब भारतीय ढग के प्रेक्षगृहों की बहुत

कवि अश्वघोष का बनाया हुआ है। इन सब नाटकों की रचना, शैली और भाषा आदि भी प्रायः वैसी ही है, जैसी कि पीछे के और नाटकों की है। इससे सिद्ध होता है कि इन नाटकों के बनने से पहले भी इस देश में नाटक रचना के संबंध में नियम आदि बन चुके थे और उनके लक्षण-ग्रंथ लिखे जा चुके थे। परंतु हमारे नाटकों के विकास का यह काल अभी तक अज्ञात काल ही माना जाता है, अतः इसे हम यहीं छोड़कर ज्ञात काल की कुछ बातें कहते हैं।

हमारे नाटकों के ज्ञात काल का आरंभ महाकवि कालिदास से होता है और उनके समय से लेकर ईसवी दसवीं शताब्दी तक उसका आरंभिक काल माना जाता है। पर हमारी समझ में यह उसका आरंभिक काल नहीं बल्कि मध्य काल है। कालिदास का पहला नाटक मालविकाग्निमित्र है जिसके कई पात्र ऐतिहासिक हैं। अग्निमित्र का समय ईसा से डेढ़ दो सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है, चाहे इससे और कुछ पहले का ही क्यों न हो। दूसरा नाटक शकुंतला है जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में होती है। उनका विक्रमोर्वशी नाटक भी बहुत ही उत्तम है, और उसकी उत्तमता का एक प्रमाण यह भी है कि उसके अनुकरण पर संस्कृत में और भी अनेक नाटकों की रचना हुई है। कालिदास के अनंतर अच्छे नाटककारों में हर्ष की गणना है जो ईसवी सातवीं शताब्दी के आरंभ में हुए थे और जिनकी लिखी हुई रत्नावली नाटिका और नागानंद आदि नाटक हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक भी बहुत ही अच्छा है, पर कहते हैं कि वह भास के दरिद्र चारुदत्त के आधार पर लिखा गया है। इनके बाद

कि जिन नाटकों का आरंभ गीति काव्यों और महाकाव्यों से हुआ हो, उनकी अपेक्षा वे नाटक अधिक प्राचीन हैं, जिनका मूल गद्य और गीति काव्यों मे हो। हमारे यहाँ इस ढग के प्राचीन नाटकों का अवशेष अब तक बगाल की यात्राओं और व्रज की रास लीलाओं के रूप मे वर्तमान है। यद्यपि ठीक ठीक यह नहीं बतलाया जा सकता कि भारत में शुद्ध और व्यवस्थित रूप में नाटकों का आरभ कब हुआ, तथापि अनेक प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध है कि ईसा से कम से कम हजार आठ सौ वर्ष पहले यहाँ नाटकों का यथेष्ट प्रचार था, और ईसा से चार पाँच सौ वर्ष पहले यहाँ की नाट्य कला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उसके सम्बन्ध में अनेक लक्षण-ग्रन्थ भी बन गए थे। इस प्रकार हमारे यहाँ के नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास उस समय से आरभ होता है, जिस समय वे अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर थे और जिसके उपरात उनका ह्रास आरम्भ हुआ था।

आज से कुछ ही दिनों पहले महाकवि कालिदास ही संस्कृत के आदि नाटककार माने जाते थे, पर अब इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि कालिदास से चार पाँच सौ वर्ष पहले भी सस्कृत में अनेक अच्छे अच्छे नाटक बन चुके थे। पहले तो कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक मे ही उनसे पहले के भास और कविपुत्र आदि कई प्रसिद्ध नाटककारों का उल्लेख मिलता है, और तिस पर अब ट्रावन्कोर में भास के अनेक नाटक मिल भी गए हैं जिनमें से कई प्रकाशित भी हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया में भी बौद्ध-कालीन अनेक खडित नाटकों की हस्त लिखित प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें से एक कनिष्क के रा

कवि अश्वघोष का बनाया हुआ है। इन सब नाटकों की रचना, शैली और भाषा आदि भी प्राय वैसी ही है, जैसी कि पीछे के और नाटकों की है। इससे सिद्ध होता है कि इन नाटकों के बनने स पहले भी इस देश मे नाटक रचना के सबध मे नियम आदि बन चुके थे और उनके लक्षण-ग्रथ लिखे जा चुके थे। परतु हमारे नाटकों के विकास का यह काल अभी तक अज्ञात काल ही माना जाता है, अत इसे हम यहाँ छोडकर ज्ञात काल की कुछ बातें कहते हैं।

हमारे नाटकों के ज्ञात काल का आरभ महाकवि कालिदास से होता है और उनके समय से लेकर ईसवी दसवीं शताब्दी तक उसका आरभिक काल माना जाता है। पर हमारी समझ में यह उसका आरभिक काल नहीं बल्कि मध्य काल है। कालिदास का पहला नाटक मालविकाग्निमित्र है जिसके कई पात्र ऐतिहासिक हैं। अग्निमित्र का समय ईसा से डेढ दो सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है, चाहे इससे और कुछ पहले का ही क्यों न हो। दूसरा नाटक शकुतला है जिसकी गणना ससार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में होती है। उनका विक्रमोर्वशी नाटक भी बहुत ही उत्तम है और उसकी उत्तमता का एक प्रमाण यह भी है कि उसके अनुकरण पर सस्कृत में और भी अनेक नाटकों की रचना हुई है। कालिदास के अनतर अच्छे नाटककारों में हर्ष की गणना है जो ईसवी सातवीं शताब्दी के आरभ मे हुए थे और जिनकी लिखी हुई रत्नावली नाटिका और नागानद आदि नाटक हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक भी बहुत ही अच्छा है, पर कहते हैं कि वह भास के दरिद्र चारुदत्त के आधार पर लिखा गया है। इनके बाद

के नाटककारों में भवभूति हुए, जो कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के आश्रित थे और जिनका समय सातवीं शताब्दी का अंत माना जाता है। इनके रचित महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके उपरांत नवीं शताब्दी के मध्य में भट्टनारायण ने वेणीसंहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की थी। नवीं शताब्दी के अन्त में राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बाल-रामायण और बालभारत आदि नाटक रचे थे और ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्ण मिश्र ने प्रबोध-चंद्रोदय नाटक की रचना की थी। दसवीं शताब्दी में धनंजय ने दशरूपक नामक प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थ भी लिखा जिसमें नाटक की कथावस्तु, नायक, पात्र, कथोपकथन आदि का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है।

ईसवी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक तो संस्कृत में अच्छे अच्छे नाटकों की रचना होती थी, पर इसके संस्कृत नाटकों का पतन-काल आरंभ हुआ। इसके अनंतर जो नाटक बने, वे नाट्य-कला की दृष्टि से उतने अच्छे नहीं हैं, जितने अच्छे उनसे पहले के बने हुए हैं। इसी लिये हम उनका कोई उल्लेख न करके एक दूसरी बात पर विचार करना चाहते हैं।

भारतीय नाट्यकला पर यूनानी प्रभाव

संस्कृत के नाटकों में यवनिका, यवनी और शकार आदि शब्दों के आधार पर पहले कुछ विद्वान कहा करते थे कि भारतवासियों ने नाट्य कला यूनानियों से सीखी थी। यद्यपि आजकल इस मत के समर्थकों की संख्या बहुत ही कम हो गई है और अधिकांश विद्वान यही मानने लगे हैं कि भारतवासियों ने अपनी नाट्य-कला

होते थे और रगमच पर हत्या, युद्ध आदि के दृश्य दिखलाना वर्जित था। यूनानी नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता है, पर हमारे यहाँ प्राकृतिक शोभाओं के वर्णन और रसों की प्रधानता मानी गई है। विक्रमोर्वशी का आरभ ही हिमालय के विशाल प्राकृतिक दृश्य से होता है। उत्तररामचरित और शकुतला मे भी प्राकृतिक शोभाओ का ही वर्णन है। यूनानी नाटक बहुधा खुले मैदानो में होते थे, अथवा ऐसे अखाडो आदि मे होते थे जिनमे और भी अनेक प्रकार के खेल तमाशे होते थे। पर भारतीय नाटक एक विशेष प्रकार की बनी हुई रगशालाओं में होते थे। साराश यह कि कदाचित् एक भी बात ऐसी नहीं है जो यूनानी और भारतीय नाटको मे समान रूप से पाई जाती हो। हाँ, दोनो मे अतर बहुत अधिक और प्रत्यक्ष है। और फिर सब से बडी बात यह है कि नाटक रचना प्रतिभा का काम है और प्रतिभा कभी किसी की नकल नहीं करती। वह जो कुछ करती है, आप से आप, बिलकुल स्वतन्त्र रूप से करती है।"

बिलकुल आरम्भ से ही यूनानी नाटको का सबध वहाँ के धर्म से रहा है। कुछ विद्वानो का मत है कि आरम्भ मे मिस्र अथवा पश्चिमी एशिया के कुछ प्राचीन देशों की देखादेखी यूनानवालों ने भी अपने यहाँ नाट्य कला का प्रचार किया था। यह तो प्राय सिद्ध ही है कि यूनानियो ने कई धार्मिक सिद्धात तथा विश्वास मिस्रवालो से ग्रहण किए थे और यूनान तथा मिस्र दोनों के नाटकों का वहाँ के धर्म से घनिष्ठ सबध है। अत यह माना जाता है कि यूनानियों ने अनेक धार्मिक शिक्षाओ के साथ साथ

यूनानी नाट्य-कला का विकास

मिस्रवालों अथवा पश्चिमी एशिया की कुछ प्राचीन जातियों से नाट्य-कला भी ली थी। यह निश्चित है कि यूनानियों ने स्वयं ही नाट्य कला की सृष्टि नहीं की थी, पर साथ ही यह भी निश्चित है कि उन्होंने उसका विकास बिलकुल स्वतन्त्र रूप से और अपने ढंग पर किया था। आरंभ में यूनान में डायोनिसस देवता के उद्देश से एक बहुत बड़ा धार्मिक उत्सव हुआ करता था। पीछे से उसी उत्सव के अवसर पर वहाँ नाटक भी होने लगे थे। वे नाटक दिन भर होते रहते थे और उनकी व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। भिन्न भिन्न स्थानों में वह उत्सव वसन्त ऋतु के आरम्भ, मध्य अथवा अन्त में हुआ करता था। उस उत्सव के साथ जो नाटक होते थे, उन्हें देखने के लिये दर्शकों को किसी प्रकार का प्रवेश-शुल्क आदि नहीं देना पड़ता था, पर उन्हें अपने लिये बिछौने और जलपान आदि का स्वयं ही प्रबंध करना पड़ता था। परंतु उस समय जो अभिनय होते थे, वे पूरे नाटक नहीं कहे जा सकते। हाँ, उनमें नाटकों का बिलकुल पूर्व रूप अवश्य था। वास्तविक नाटकों और व्यवस्थित नाटक मंडलियों की रचना और संघटन तो वहाँ ईसा से केवल चार पाँच सौ वर्ष पहले ही आरंभ हुआ था।

प्राचीन काल में यूनान के डोरियन राज्यों में यह प्रथा प्रचलित थी कि लोग देवमंदिरों में एकत्र होकर भजन और नृत्य किया करते थे। वहाँ की सारी प्रजा प्रायः सैनिक या क्षत्रिय थी, अतः उस नृत्य में सैनिकों के कृत्यों आदि का साधारण अभिनय हुआ करता था। आगे चलकर उसमें यह विशेषता उत्पन्न हुई कि भारतीय सूत्रधारों की तरह वहाँ के कवि या अपनी मंडली

सगठित करने लगे और अपने सिखाए हुए गायकों और नर्तकों को साथ लेकर धार्मिक उत्सवों के समय ऐसे अभिनय करने लगे जो नाटक का पूर्व रूप कहे जा सकते हैं। धीरे धीरे उन नृत्यों ने कई भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त कर लिए और उन्हीं स्वरूपों से आगे चलकर दुःखात और सुखात नाटकों की सृष्टि हुई। उनमें से एक प्रकार का नृत्य, जिसे हम "अजा नृत्य" कह सकते हैं, बहुत प्रचलित हुआ। उस नृत्य मे पचास आदमी होते थे जो ऐसे वेष धारण करते थे जिनके कारण वे आधे मनुष्य और आधे पशु जान पड़ते थे। उनको बकरी का चेहरा लगा दिया जाता था और उनके पैर तथा कान भी बकरियों के पैरों और कानों के समान बना दिए जाते थे। वे लोग जो गीत गाते थे, वे "ट्रेजेडी" (Tragedy) कहलाते थे जिसका भावार्थ "अजा-गीत" है। आगे चलकर इन्हीं अजा-गीतों से दुःखात नाटकों की सृष्टि हुई थी। इन अजा-गीतों का यूनानियों के डायोनिसस देवता के स्वरूप के अनुसार ही नामकरण हुआ था। हमारे यहाँ के गणेश जी, नृसिंह आदि के समान डायोनिसस का स्वरूप बैल और बकरी के स्वरूप का सम्मिश्रण माना जाता था। मूर्तियों में उसके सिर पर साँड के सींग लगाए जाते थे और उसका शरीर बकरी की खाल के समान रखा जाता था। प्राचीन काल में यूनान के लोग स्वय भी बकरी की खाल पहना करते थे, और अब तक कहीं कहीं वहाँ के देहातियों और खेतिहरों की यही पोशाक है। आज कल भी थ्रेस आदि कुछ स्थानों में ब्रज की रास-लीलाओं और बगाल की यात्राओं की भाँति पुराने ढग के कुछ नाटक होते हैं जिनमें पात्र आदि बकरी की खाल पहनकर अभिनय करते हैं।

क और स्थान मे लोग एड्राग्टस नामक एक स्थानिक देवता के त्सव मे भी इसी प्रकार के नृत्य आदि करते थे। यूनान की राणिक कथाओं के अनुसार डायोनिसस और एड्रास्टस दोनों ो अनेक प्रकार के कष्ट सहने पडे थे, और यूनानियो के अभि यो के मुख्य आधार यही देवता और उनके चरित्र आदि होते , जिनमे विपत्तियो ओर कष्टों की ही अधिकता होती थी। यही ारण है कि यूनान के दु खात नाटको का मूल ये अजा-गीत ही ाने जाते हैं। यहाँ यह वात भी ध्यान में रखने योग्य है कि यूनानी दु खात नाटको का अन्त वास्तव में दु खपूर्ण नहीं होता, वल्कि केवल मध्य ही दु खपूर्ण होता है, क्योकि उनके देवताओं ने, पौराणिक कथाओ के अनुसार, दु ख भोगने के उपरात अन्त मे विजय ही प्राप्त की थी। हाँ, आगे चलकर उनके अनुकरण पर और और देशों मे जो नाटक वने, वे प्राय दु खात ही थे।

यद्यपि ये अजा गीत युरोप के आधुनिक दु खात नाटकों के पूरा रूप हैं, तथापि यूनान में वास्तविक दु खात नाटकों का आरभ महाकवि होमर के ईलियड महाकाव्य की रचना के अनतर हुआ था। पहले तो देवताओं के सामने केवल नृत्य और गीत होते थे, पर पीछे से उनमें सम्वाद या कथोपकथन भी मिला दिया गया था। गायकों का प्रधान एक मच पर खड़ा हो जाता था और शेष गायकों के साथ उसका कुछ कथोपकथन होता था। र इस कथोपकथन का मूल सभवत महाकवि होमर का ईलियड महाकाव्य था। पहले कुछ भिखमगे शहरों में ईलियड महाकाव्य के इधर उधर के अश गाते फिरते थे, जो लोगों को बहुत पसद आते थे और जिनका प्रचार शीघ्र ही वहुत वढ़ गया था। कुछ

दिनों के बाद धार्मिक उत्सवों पर अजा गीतों के साथ सा
ईलियड के अंश भी गाए जाने लगे। इस प्रकार अजा गीतों और
ईलियड-गान के संयोग से यूनान में नाट्य-कला का बीजारोपण
हुआ, क्योंकि गीत और नृत्य में कथोपकथन के मिल जाने प
नाटकों की सृष्टि में वेश भूषा और भाव भंगी के अतिरिक्त क
चित् ही किसी और बात की कसर रह जाती हो।

इस प्रकार नाटकों का सूत्रपात होने के उपरांत धीरे धी
नाट्यशास्त्र का विकास होने लगा और लोग उसमें नवीन
अथवा विशेषता लाने लगे। कहते हैं कि ईसा से प्राय छ
वर्ष पूर्व थेस्पिस नामक एक यूनानी कवि हुआ था, जिसने यूना
में सब से पहले नाटक लिखना आरंभ किया था। यह प्रसिद्ध
कि उसने सात दु खांत नाटकों की रचना की थी, पर
उनमें से एक भी नाटक प्राप्त नहीं है। थेस्पिस अपने साथ
और आदमी रखता था और दोनों को एक गाडी पर अपने सा
लेकर गाँव गाँव और नगर नगर घूमा करता था। उसी गाड़ी
पर वे तीनों मिलकर गाते और कुछ कथोपकथन करते थे।
उसके साथी किसी प्रकार का चेहरा लगाए रहते थे और किसी
देवता के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का अभिनय
किया करते थे। बहुत दिनों तक नाटक के इस रूप में कोई
विशेष उन्नति नहीं हुई। यदि कोई उन्नति या परिवर्तन हुआ भी,
तो वह केवल यही कि गीत घटने लगे और कथोपकथन बढ़ने
लगे। पर नटों की संख्या अथवा रंगमंच में कोई विशेष उल्लेख
योग्य परिवर्तन अथवा विकास नहीं हुआ—सब बातें प्राय
की त्यों रहीं।

हैं। प्राचीन काल मे यूनान मे यह प्रथा थी कि कुछ विशेष अवसरो पर लोग पुरुष की जननेंद्रिय का चिह्न बनाकर उसका पूजन करते थे और वही चिह्न लेकर जलूस निकालते थे। उस जलूस मे लोग तरह तरह के अश्लील गीत गाते थे। उस जलूस की समता अपने यहाँ के होली के स्वाँगो से की जा सकती है। उस जलूस के साथ जो गीत गाए जाते थे, वे उस इंद्रिय विशेष की प्रशसा मे और प्राय हास्यपूर्ण हुआ करते थे। कहते हैं कि उन्हीं गीतों आदि में मोरिस नामक स्थान के सुमेरियन नामक एक व्यक्ति ने कुछ परिवर्तन और सुधार करके उनकी अश्लीलता कम की थी और उनमे अपने बनाए हुए कुछ नए गीत मिलाए थे। इसके उपरात मेइसन, टालिनस आदि कई व्यक्तियो ने उसमे कुछ और सुधार तथा परिवर्तन आदि किए थे, पर हास्य रस प्रधान वे गीत और अभिनय आदि यूनानियो को अधिक पसद नहीं आए और यूनान में प्राय सिकन्दर के समय तक दु खान्त नाटकों की ही प्रधानता रही तथा सुखात नाटको का उतना अधिक प्रचार न हो सका। उन दिनों उन सुखात नाटको मे प्राय चौबीस गायक हुआ करते थे और पात्रो का प्रवेश, प्रस्थान, कथोपकथन और परिहास आदि भी हुआ करता था। बिलकुल आरभ में उन नाटकों मे केवल ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक पुरुषों की हँसी उडाई जाती थी और पशुओं, पक्षियों आदि के स्वाँग भरे जाते थे। विशेषत राजकीय अधिकारियों के नाम पर खूब गीत बनाए जाते थे और उनकी खूब दिल्लगी उडाई जाती थी। पर आगे चलकर राज्य के द्वारा इन बातों को रोकने के

यूनानी सुखात नाटक

लिये अनेक प्रतिबंध होने लगे। साधारणतः यूनानी नाटकों के ऐतिहासिक दृष्टि से तीन युग माने जाते हैं। पहला प्राचीन युग जो ईसा से प्रायः ३९० वर्ष पहले तक था, दूसरा मध्य युग जो उसके बाद से लेकर ईसा के ३२४ वर्ष पूर्व तक माना जाता है, और तीसरा नवीन युग जो उसके अनंतर आरंभ होता है। मध्य युग में ही प्राचीन युगवाली अश्लीलता और भोंडापन बहुत कुछ कम हो गया था, और नवीन युग में तो उनमें और भी कई नए सुधार हुए थे। नवीन युग में और अनेक प्रकार के सुधारों के साथ ही साथ सुखांत नाटकों में शृंगार और प्रेमपूर्ण कथाओं का भी प्रवेश होने लगा। उस युग के प्रवर्तक फिलमन और मेनेंडर आदि माने जाते हैं। थोड़े ही दिनों के उपरांत जब यूनानी सभ्यता का अंत आ चला और रोमवालों ने यूनान पर विजय प्राप्त कर ली, तब यूनान की और और अनेक बातों के साथ वहाँ की नाट्य-कला भी रोम चली गई, और पीछे वह यूनान से इटली और इटली से सारे युरोप में फैली।

रोम में पहला नाटक ईसा से २४० वर्ष पहले एक भारी विजय के उपलक्ष में हुआ था। उस समय रोमन रंगमंच पर

रोमन नाटक

पहले पहल दुःखांत और सुखांत दोनों प्रकार के नाटक खेले गए थे। उन दोनों नाटकों का रचयिता एंड्रोनिकस नामक एक यूनानी माना जाता है, जिसने स्वयं उन नाटकों में अभिनय किया था। इसके उपरांत रोम में और भी जो नाटक आदि बने, वे सब नवीन युग के यूनानी नाटकों के अनुकरण पर थे। विशेषता केवल इतनी थी कि उनमें रोमन राष्ट्रीयता के भावों को बहुत अधिक स्थान मिलता था, और यूनानी नाटकों से रोमन

नाटकों में यही सब से बड़ी विशेषता थी, क्योंकि यूनानी नाटक बहुधा राष्ट्रीय भावों से शून्य होते थे और उनका रूप प्राय धार्मिक हुआ करता था। नाट्य कला की दृष्टि से भी रोमन नाटकों में थोड़े बहुत परिवर्तन और सुधार हुए थे। उन्हीं दिनो रोम में अनेक रंग शालाएँ आदि भी बन गई थीं। रोम में पहली स्थायी रंगशाला ईसा से ५५ वर्ष पहले बनी थी जिसमें लगभग १८००० दर्शकों के बैठने का स्थान था। रोमन नाटकों में अभिनय करने-वाले प्राय यूनान या दक्षिण इटली के दास हुआ करते थे। इसका कारण कदाचित् यही था कि प्राचीन काल में प्राय सभी देशों में अभिनय करनेवाले और नट कुछ उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे, और रोमन लोग विजता थे, इसलिये वे अभिनय आदि के लिये अपने दासो को शिक्षा देकर तैयार किया करते थे। रोम की सभ्यता और बल की वृद्धि के साथ ही साथ वहाँ नाटको की भी खूब उन्नति हुई थी। पर ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य मे, जब ईसाई पादरियों का जोर बहुत बढ गया और वे नाटको तथा अभिनयो की बहुत निंदा और विरोध करने लगे, रोम मे नाट्य-कला का ह्रास आरभ हुआ। जब रोमन लोग रगशालाओ में अपने मनोविनोद के लिये अनेक प्रकार के क्रूरता—और निर्दयतापूर्ण खेल कराने लग गए और उन रगशालाओ के कारण लोगो में विलासिता बहुत बढ गई, तब नाटको आदि का और भी घोर विरोध होने लगा और राज्य की ओर से उनका प्रचार रोकने के लिये अनेक प्रकार के नियम बनने लगे। यह निश्चय किया गया कि नट लोग ईसाइयो के धार्मिक उत्सवो आदि में न सम्मिलित हो सकें, और जो लोग रविवार या दूसरी छुट्टियो के

लिये अनेक प्रतिबंध होने लगे। साधारणत यूनानी सुखा नाटकों के ऐतिहासिक दृष्टि से तीन युग माने जाते हैं। पहला प्राचीन युग जो ईसा से प्राय ३९० वर्ष पहले तक था, दूसरा मध्य युग जो उसके बाद से लेकर ईसा के ३२४ वर्ष पूर्व तक माना जाता है, और तीसरा नवीन युग जो उसके अनंतर आरंभ होता है। मध्य युग में ही प्राचीन युगवाली अश्लीलता और भॉडपन बहुत कुछ कम हो गया था, और नवीन युग में तो उसमें और भी कई नए सुधार हुए थे। नवीन युग में और अनेक प्रकार के सुधारों के साथ ही साथ सुखात नाटकों में शृंगार और प्रेमपूर्ण कथाओं का भी प्रवेश होने लगा। उस युग के प्रवर्तक फिलेमन और मेनेंडर आदि माने जाते हैं। थोडे ही दिनों के उपरांत जब यूनानी सभ्यता का अत आ चला और रोमवालों ने यूनान पर विजय प्राप्त कर ली, तब यूनान की और और अनेक बातों के साथ वहाँ की नाट्य-कला भी रोम चली गई, और पीछे वह यूनान से इटली और इटली से सारे युरोप में फैली।

रोम में पहला नाटक ईसा से २४० वर्ष पहले एक भारी विजय के उपलक्ष में हुआ था। उस समय रोमन रंगमंच पर

रोमन नाट्य

पहले पहल दु खात और सुखांत दोनों प्रकार के नाटक खेले गए थे। उन दोनों नाटकों का रचयिता एंड्रो-निकस नामक एक यूनानी माना जाता है, जिसने स्वयं उन नाटकों में अभिनय किया था। इसके उपरांत रोम में और भी जो नाटक आदि बने, वे सब नवीन युग के यूनानी नाटकों के अनुकरण पर थे। विशेषता केवल इतनी थी कि उनमें रोमन राष्ट्रीयता के भावों को बहुत अधिक स्थान मिलता था, और यूनानी नाटकों से रोमन

दिन गिरिजा मे न जाकर नाट्यशालाओं मे जाया करे, व समाज-च्युत कर दिए जायँ। उस समय अधिकाश युरोप मे और विशेषत रोम मे, ईसाई धर्म का बहुत अधिक जोर था यहाँ तक कि राजकीय अधिकार भी प्राय धर्माचार्यों के ही हाथ मे थे। अत उनके विरोध के कारण रोम मे नाट्य-कला का ह्रास होने लगा और अत मे नाटक बिलकुल उठ गए। इसके कई सौ वर्ष पीछे ईसाई धर्माचार्यों तथा कुछ और लोगो ने फिर से धार्मिक तथा नैतिक नाटको का प्रचार आरभ किया था।

हम पहले कह चुके हैं कि धर्माचार्यों और पादरियो आदि के विरोध के कारण लगभग चौथी शताब्दी मे ही युरोप मे नाटको का पतन आरभ हो गया था। यद्यपि उस समय नाटकों का होना बिलकुल बद नहीं हुआ था, तथापि बहुत कुछ कम अवश्य हो गया था और उनका स्थान भावाश्रित नृत्य या मार्ग ने ले लिया था। परतु गिरजा मे ईसाइयों की जो ईश्वर-प्रार्थना होती है, स्वय उसी में नाटक के कई तत्त्व वर्तमान है, इसलिये वह प्रार्थना ही नाटक का रूप धारण करने लगी और धीरे धीरे कई सौ वर्षों के उपरात वहाँ धार्मिक नाटको की रचना आरभ हुई। पीछे से प्रार्थना के उपरात स्वय गिरजा मे ही अथवा उसके बाहर नाटक होने लगे। आगे चलकर इन धार्मिक नाटको का और भी विकास हुआ और धीरे धीरे वहाँ अनेक व्यवसायी नाटक-मडलियाँ स्थापित हो गई। जब धार्मिक नाटको की बहुत अधिकता हो गई, तब धीरे धीरे नैतिक और सामाजिक नाटक भी बनने लगे। ज्यों ज्यो इन नाटको का प्रचार बढता जाता था, त्यो त्यो नाटको पर

युरोप के नाटक

से धर्म्माचार्यों का अधिकार भी उठता जाता था। साथ ही स्वय ईसाई धर्म का प्रभाव भी पहले के समान न रह गया था, इससे नटों और नाटककारो को और भी स्वतत्रता मिल गई। उस समय तक नाटको के विकास का यह क्रम और अवस्था युरोप के प्राय सभी देशों मे समान थी। परतु एक बात थी। अब तक तो युरोप के नाटको का रूप बहुधा स्वाँगो और रासो आदि के समान ही था, पर युरोप के पुनरुत्थान काल के उपरात उनको साहित्यिक रूप भी प्राप्त होने लग गया था। दूसरी बात यह थी कि पुनरुत्थान काल के पूर्व प्राय सारे युरोप के नाटक अनेक बातो मे बिलकुल एक से होते थे। पर उसके उपरात प्रत्येक देश में अपने अपने ढग पर अलग अलग राष्ट्रीय नाटक बनने लगे थे। राष्ट्रीयता के बधन में पडने के उपरात भिन्न भिन्न देशो के नाटको की उन्नति भिन्न भिन्न प्रकार और गति से होने लगी थी। विशेषत स्पेन और इटलीवालो ने उस समय नाट्य-कला में बहुत अच्छी उन्नति की थी और इन देशो में अनेक अच्छे अच्छे नाटक लिखे गए थे। युरोप के अन्यान्य देशो के आधुनिक नाटको पर बहुधा इन्हीं में से किसी न किसी देश के नाटको का प्रभाव पड़ा है।

युरोप के अन्यान्य देशो की भाँति इँगलैंड में भी मध्य युग तक पुराने नाटको का अत हो गया था। पर महारानी एलिजे-

अँगरेजी नाटक

बेथ के राज्यारोहण के समय वहाँ फिर नाटको का प्रचार आरभ हुआ। उस समय वहाँ पहले पहल इटैलियन भाषा के कुछ नाटको का प्रचार हुआ था, जिनकी देखादेखी अँगरेज कवि भी दु खात और सुखात नाटक रचने

लगे थे। महारानी एलिजेबेथ को नाटकों का बहुत शौक हो गया था, अत उनके शासन-काल में इँगलैंड में नाट्य कला की यथ उन्नति हुई थी। उनके समय में अनेक सुखात और दु खात नाटक बने थे जिन्हे सर्वसाधारण बडे चाव से देखते थे। उसी समय रगशालाओ में राजनीति का भी कुछ पुट आ गया था जिसके कारण वहाँ के राजनीतिज्ञों मे कुछ वैमनस्य भी हो चला था। ऐसे समय मे इँगलैंड के नाट्य-क्षेत्र मे शेक्सपियर ने प्रवेश करके अँगरेजी नाटक-रचना मे एक नवीन युग का आरभ किया। शेक्सपियर एक प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त स्वय भी पहले कुछ दिनो तक नट का काम कर चुका था, इसलिये उसके सभी सुखात और दु खात नाटक बहुत ही उच्च कोटि के होते थे और सर्वसाधारण में उनका बहुत अधिक आदर होता था। इसके उपरात इँगलैंड मे प्राय जितने अच्छे अच्छे नाटककार हुए वे सभी शेक्सपियर के प्रभाव से प्रभावान्वित थे, और अभी तक वहाँ के नाटकों मे शेक्सपियर की थोडी बहुत छाया पाई जाती है। बीच में गृहविवाद और राजनीतिक झगडो आदि के कारण और राज्य की ओर से नाटको तथा रगशालाओ में हस्तक्षेप होने के कारण कुछ दिनों के लिये इँगलैंड की नाट्य-कला की उन्नति मे बहुत कुछ बाधा पड गई थी, और ऐसा जान पडता था मानों उसका अत हो जायगा। पर वह बात नहीं हुई और थोडे ही दिनों के उपरात वहाँ नाट्य-कला का फिर से उद्धार होने लगा। इधर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से उसकी विशेष उन्नति होने लगी, और अब तो इँगलैंड की नाट्य-कला ससार में बहुत उन्नत तथा नाट्य साहित्य बहुत श्रेष्ठ माना जाता है।

यहाँ हम एक और बात बतला देना चाहते हैं। वह यह कि जिस प्रकार रोम में नाट्य-कला का प्रचार यूनान के अनुकरण पर हुआ था, उसी प्रकार यूनान में नाटकों का प्रचार मिस्र के नाटकों की देखादेखी हुआ था।

मिस्र के नाटक



यूनान में नाटकों का प्रचार होने से बहुत पहले मिस्र में नाटकों का बहुत कुछ प्रचार था। उनका आरभिक रूप भी यूनानी आरभिक नाटकों के रूप से बहुत कुछ मिलता जुलता था। वहाँ भी अनेक धार्मिक अवसरों पर देवी-देवताओं के जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाओं के अभिनय हुआ करते थे। परतु मिस्र की नाट्य-कला भारत की नाट्य-कला के समान इतनी प्राचीन है कि उसका उस समय का ठीक ठीक और व्यवस्थित इतिहास मिलना बहुत ही कठिन है।

चीन में भी नाट्य कला का विकास, भारत की भाँति, बहुत प्राचीन काल में नृत्य और सगीत कलाओं के सयोग से हुआ था। पता चलता है कि कनफूची के समय में भी वहाँ अपने आरभिक रूप में नाटक हुआ करते थे।

चीन के नाटक



ऐसे नाटक प्राय फसल अथवा युद्ध आदि की समाप्ति पर हुआ करते थे और उनमें लोग नृत्य और गीत आदि के साथ कई प्रकार की नकलें किया करते थे। परतु नाटक के शुद्ध और व्यवस्थित रूप का प्रचार वहाँ ईसा से लगभग ५८० वर्ष पीछे हुआ था। चीनवाले कहते हैं कि तत्कालीन सम्राट् वान ने पहले पहल नाटक का आरभ किया था। पर कुछ लोगों का मत है कि नाटक का आविष्कर्ता सम्राट् हुएनसग था, जो ईसवी सन् ७२० के लगभग हुआ था। चीनी नाट्य कला का इतिहास तीन कालों

मे विभक्त किया जाता है। पहला काल तांग राजवंश का शासन काल था जो ईसवी सन् ७६० से ९६० तक था, दूसरा सुग राजवश का शासन काल था जो सन् ९६० से ११२६ तक था और तीसरा काल चिन और युआन राजवशो का शासन काल था जो ११२६ से १३६७ तक था। तांग काल के नाटक आज कल नही मिलते, पर कहा जाता है कि उस काल के सभी नाटक ऐतिहासिक हुआ करते थे और उनमे युद्धो तथा वीरो के कार्यों का अभिनय हुआ करता था। सुग काल के नाटक प्राय गीतो से ही भरे होते थे और उनमें नाटक की सारी कथा गाकर कही जाती थी। उन दिनो के नाटकों में एक विशेषता यह भी थी कि प्रत्येक नाटक मे अधिक से अधिक पाँच ही नट हुआ करते थे। पर तीसरे या युआन काल मे नाटको की बहुत अधिक उन्नति हुई थी। उन दिनों वहाँ जैसे अच्छे नाटक बने, वैसे कदाचित् आज तक भी न बने होंगे। इसके अतिरिक्त चीनियों ने उन दिनों अपने नाटकों में जो विशेषताएँ उत्पन्न की थीं, वे प्राय. आज तक ज्यो की त्यों वर्तमान हैं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि चीन के उन दिनो के नाटक आजकल के नाटको से किसी बात में कम नहीं है। उस काल में वहाँ ८५ नाट्यकार हुए थे जिनमें चार स्त्रियाँ भी थीं। उस समय के लिखे हुए आज तक लगभग ५५० नाटक मिले हैं जो किसी एक विषय के नहीं बल्कि भिन्न भिन्न विषयों के हैं। उन दिनो पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे जाते थे और रंगशाला पर सम्राट् से लेकर घर की साधारण मजदूरनियों तक के चरित्र अभिनीत होते थे। उनमे का कथोपकथन विलक्षण

साधारण और बोल चाल की भाषा मे हुआ करता था। उनके नाटकों मे पाँच अंक होते थे, जिनमें से पहला कथानक या विषय प्रवेश के रूप में होता था। परन्तु चीनी रङ्गशालाओं में परदे या यवनिकाएँ नहीं होती थीं और न दो अंकों के बीच मे किसी प्रकार का विश्राम आदि हुआ करता था। उन दिनों नाटक रचने मे इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था कि उनसे लोगों को पूरी पूरी शिक्षा मिले तथा उनका चरित्र सुधरे, और उनमे कोई अश्लील या आपत्ति जनक बात न आने पाती थी। पर फिर भी उनमे हास्य-रस की कमी नहीं होती थी। उनकी कथा वस्तु और रङ्गशाला दोनों बिलकुल सीधी सादी और सरल होती थीं। उनकी रङ्गशालाएँ इतनी साधारण होती थीं कि छोटे से छोटे गाँव मे भी, आवश्यकता पड़ने पर, तुरन्त रङ्गशाला बना ली जाती थी, और यही कारण था कि चीन में नाटकों का प्रचार गाँवों तक मे हो गया था। पर नटों का वहाँ भी समाज में कोई आदर नहीं होता था और वे नौकरों तथा नाइयों के समान समझे जाते थे। उनको सार्वजनिक परीक्षाओं तक में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं था। पहले वहाँ स्त्रियाँ भी रंगशाला मे अभिनय किया करती थीं, पर जब से एक नटी को सम्राट् चिन लाग ने अपनी उपपत्नी बना लिया, तब से वहाँ की रङ्गशालाओं में स्त्रियों का प्रवेश बंद हो गया।

एशिया में भारत और चीन यही दो ऐसे देश हैं जिनमे बहुत प्राचीन काल मे और स्वतंत्र रूप से नाटकों का आरंभ, प्रचार और विकास हुआ था। अन्यान्य देशों में बहुधा इन्हीं दोनों देशों से नाटक गए हैं। स्याम और मलय आदि देशों में

भारत की देखादेखी और जापान में चीन के अनुकरण पर नाटकों का आरम्भ और प्रचार हुआ था। यद्यपि अरब देश का साहित्य बहुत उन्नत और पूर्ण है, तथापि यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि वहाँ नाटकों का अभी आरम्भ और प्रचार हुआ ही नहीं। नाटकों की ओर अरबवालों की प्रवृत्ति बहुत पीछे हुई है और अब भी वहाँ मौलिक नाटकों का अभाव ही है। आजकल अरबी भाषा में जो थोड़े बहुत नाटक मिलते भी हैं, वे दूसरी भाषाओं के अनुवाद हैं। इस्लाम धर्म में तो अवश्य ही नृत्य गीत आदि की मनाही है, पर आश्चर्य है कि उसके प्रचार के पहले वहाँ नाटकों का आरम्भ क्यों नहीं हुआ। जिस मिस्र देश में बहुत प्राचीन काल में भी किसी न किसी रूप में अनेक नाटक विद्यमान थे, उस मिस्र देश में भी अब निज का कोई नाटक नहीं रह गया है। जो नाटक हैं भी, वे दूसरों की नकल या अनुवाद हैं। यह उस देश की दशा है जिसकी देखादेखी यूनान में नाटकों का प्रचार हुआ था। इस विषय में यूनान का अनुकरण रोम ने और पीछे से रोम का अनुकरण प्रायः सारे युरोप ने किया था। अमेरिका के पेरू और मेक्सिको आदि देशों में अवश्य ही बहुत प्राचीन काल में और बिलकुल स्वतन्त्र रूप से नाटकों का आरम्भ तथा प्रचार हुआ था। यद्यपि आजकल वहाँ के रक्त वर्णवालों की दशा बहुत ही शोचनीय है, तथापि वहाँ अब भी प्राचीन ढंग के नाटक होते हैं। इन देशों के नाटकों के सम्बन्ध में सब से अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इनके नाटकों की अनेक बातें भारतीय और संस्कृत नाटकों से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि दसवीं शताब्दी के उपरान्त

ारतीय नाट्य कला का ह्रास होने लगा था और अच्छे नाटकों का बनना प्राय बन्द सा हो चला था। यद्यपि हमारे यहाँ के हनुमन्नाटक, प्रबोधचन्द्रोदय, रत्नावली, मुद्राराक्षस आदि नाटक दसवीं

आधुनिक भारतीय नाटक

ौर बारहवीं शताब्दी के बीच में बने थे, तथापि इसमें सन्देह नहीं ि‍के उन दिनों नाटकों की रचना और प्रचार दोनों में कमी होने ागग गई थी, और चौदहवीं शताब्दी के उपरात तो मानो एक प्रकार मे उनका बिलकुल अत ही हो गया था। इधर सस्कृत मे जो थोडे बहुत नाटक बने भी, वे प्राय साधारण कोटि के थे। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतवर्ष में नाट्य-कला का ह्रास ठीक उसी समय प्रारभ हुआ था, जिस समय इस देश पर मुसलमानो के आक्रमणो का आरभ हुआ था। विदेशियो के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के समय यदि लोगो को खेल तमाशे अच्छे न लगें, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, और इसके परिणाम-स्वरूप यदि भारत मे नाट्य-कला का अत हो गया, तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। कुछ विदेशियो के आक्रमणो और राजनीतिक व्यवस्था के उपरात प्राय सारा देश मुसलमानो के हाथ मे चला गया। आरभ से ही मुसलमानों में सगीत और नाट्य-कला आदि का नितात अभाव था। यही नहीं, बल्कि धार्मिक दृष्टि से वे लोग इन सब बातो के घोर विरोधी थे। अत उनके समय में नाटको आदि की कुछ भी चर्चा न हो सकी। हाँ, जिन स्थानो में हिंदुओ का राज्य था, उनमें कभी कभी और कहीं कहीं नाटक रचे और खेले जाते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत से मानों अपनी

निज की नाट्य-कला उठ ही गई थी । जो थोडी बहुत बची भी थीं, वह भी आधुनिक नाटकों के रूप में नहीं, बल्कि नाटक के बिलकुल पूर्व रूप में थी । संयुक्त प्रांत में रासलीला, बंगाल मे यात्रा और महाराष्ट्र प्रदेश में कीर्तन आदि से ही लोग अपना मन बहला लेते थे । पर इधर प्राय पचास साठ वर्षों से भारत के सभी प्रांतों में अँगरेजी ढग की रगशालाएँ बहुत बढ गई हैं जिनमे अनेक प्रकार के सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक होते हैं । इधर कुछ दिनों से कहीं कहीं राजनीतिक नाटक भी होने लगे हैं । विशेषत बंगालियों, महाराष्ट्रों और गुजरातियों ने इस विषय में बहुत कुछ उन्नति की है और उनकी रगशालाएँ बहुत अच्छे ढङ्ग से चलती हैं । रङ्गशालाओं के साथ ही साथ इन लोगों ने अपनी भाषा मे अनेक उत्तमोत्तम नाटकों की भी रचना की है । पर हमारी हिंदी में जहाँ और अनेक बातों का अभी आरभ हुआ है, वहाँ नाटकों में भी आरभ ही समझना चाहिए । बल्कि यदि यह कहा जाय कि हिंदी मे बँगला, मराठी या गुजराती के ढग के अच्छे अच्छे नाटकों की रचना का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है, तो कोई अत्युक्ति न होगी । पर इस विषय मे और बातें कहने के पहले हम सक्षेप में हिंदी नाटकों का कुछ इतिहास दे देना चाहते हैं ।

यों कहने को चाहे हिन्दी में नेवाज कवि कृत शकुंतला नाटक, हृदयराम कृत हनुमन्नाटक, या ब्रजवासीदास कृत प्रबोध चद्रोदय आदि कई सौ वर्ष पहले के बने हुए कई नाटक वर्त्तमान हों, पर वास्तव में नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन रचनाओं में नाट

हिंदी नाटक

नियमों का पालन नहीं किया गया है और वे काव्य ही काव्य हैं। हाँ, प्रभावती और आनंदरघुनंदन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक की सीमा में आ सकते हैं। कहते हैं कि हिंदी का पहला नाटक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता श्रीयुक्त बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास कृत नहुप नाटक माना जाना चाहिए, पर वह भी साधारण बोलचाल की हिंदी में नहीं, बल्कि व्रजभाषा में है। इसके उपरांत राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला नाटक का अनुवाद किया था। यद्यपि यह नाटक भाषा आदि के विचार से बहुत अच्छा है, परंतु मौलिक नाटक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कालिदास-कृत शकुंतला नाटक का अनुवाद है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने तो मानो नाटक रचना से ही आधुनिक हिंदी को जन्म दिया था। उन्होंने लगभग बीस नाटक लिखे थे जिनमें से अधिकांश अनुवाद नहीं, तो छाया नुवाद अवश्य थे। तो भी उनके कई नाटक बहुत अच्छे हैं और अब भी अनेक स्थानों में समय समय पर खेले जाते हैं। लाला श्रीनिवासदास कृत रणधीर-प्रेममोहिनी या पंडित केशवराम भट्ट कृत सज्जाद सबुल और शमशाद सौसन आदि नाटक अवश्य अच्छे हैं, पर वे प्राय इतने बड़े हैं कि उनका पूरा पूरा अभिनय नहीं हो सकता। यही दशा, बल्कि इससे भी कुछ और बढ़कर, पंडित बदरीनारायण चौधरी कृत भारत सौभाग्य नाटक की है। बाबू तोताराम कृत केटो कृतांत, या पण्डित बालकृष्ण भट्ट कृत कई नाटक हैं सही, पर कई कारणों से उनका भी सर्वसाधारण में कोई विशेष आदर नहीं है। यही बात साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास कृत ललिता नाटिका या वेणीसंहार और

गोनकट आदि नाटकों की है। हिंदी में मृच्छकटिक नाटक तीन अनुवाद है, पर एक भी रङ्गशाला के योग्य न होने के कार सर्वप्रिय नहीं हो सका। बाबू राधाकृष्णदास का महारा: प्रताप नाटक अवश्य ऐसा है जिसका हिंदी मे बहुत कुछ आ हुआ है और जिसका अनेक स्थानों पर अभिनय भी हुआ कर है। इन नाटकों के अतिरिक्त हिंदी मे गिनती के कुछ और मौलिक या सस्कृत से अनूदित नाटक भी हैं जो विशेष उल्ले योग्य नहीं जान पडते। लाला सीताराम बी० ए० ने संस्कृत क कई नाटकों का अनुवाद किया है, पर वे अनुवाद उतने अच्छ नहीं है। स्वर्गवासी पण्डित सत्यनारायण कविरत्न कृत मालती माधव और उत्तररामचरित के अनुवाद अवश्य ऐसे हैं जो स्थायी साहित्य में स्थान पाने के योग्य हैं। भारतेंदुजी के कुछ काल अनन्तर हिंदी मे अनुवाद की धूम मची और बँगला से अनेक उपन्यासो तथा नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। विशेषत काशी के भारतजीवन प्रेस से ऐसे कई नाटकों के अनुवा निकले। इधर कुछ दिनों से इन अनुवादों की सख्या और भी बढ गई है जिनमे से विशेष उल्लेख योग्य बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीयुक्त द्विजेंद्रलाल राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के अनुवाद हैं। राय महाशय के प्राय सभी नाटकों के सुदर अनुवाद बबई के हिंदी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुए हैं। पर इधर दस बीस वर्षों के अंदर हिंदी में मौलिक नाटक प्राय बने ही नहीं। इधर कुछ दिनो से काशी के श्रीयुक्त बाबू जयशकर प्रसाद ने साहित्य के इस अग की पूर्ति की ओर ध्यान दिया है और उनको मौलिक नाटक लिखने मे अच्छी सफलता

- हुई है। उनके लिखे हुए नाटकों में से अजातशत्रु, जन्मेजय
र विशाख आदि नाटक बहुत अच्छे हैं। आजकल कुछ धन-
नों की कृपा से हिंदी के लेखकों को अनेक प्रकार के पुरस्कार
ादि मिलने लगे हैं। इससे आशा होती है कि शीघ्र ही हिंदी
मौलिक रचना का आरंभ हो जायगा और साहित्य के
न्यान्य अंगों के साथ ही साथ इस अङ्ग की भी शीघ्र ही और
च्छी पूर्ति होगी।

जहाँ नाटकों का ही अभाव हो, वहाँ नाटक-मंडलियों और
गशालाओं के अभाव का क्या पूछना है। बँगला, मराठी और
गुजराती भाषा-भाषियों ने बहुत दिनों से अपनी अपनी
भाषा में अच्छे अच्छे मौलिक नाटकों की रचना
आरंभ कर रखी है और उन नाटकों के साथ ही
ाथ अपने अपने ढङ्ग की रङ्गशालाएँ भी स्थापित कर ली हैं।
नकी अनेक अच्छी अच्छी नाटक मण्डलियाँ भी बहुत दिनों से
थापित हैं। उन रङ्गशालाओं और नाटक मण्डलियों को देखने
े इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि उन लोगों ने
स सम्बन्ध में कितनी अधिक उन्नति की है और हिंदी भाषा
स विषय में कितनी पिछड़ी हुई है। हम पहले कह चुके हैं कि
ारत में आधुनिक ढङ्ग की रङ्गशालाओं और नाटक मण्डलियों
की स्थापना बहुत थोड़े दिन पहले से अर्थात् गत शताब्दी के
प्राय मध्य में आरम्भ हुई है। इन पचास साठ वर्षों में ही
यहाँ अँगरेजी ढङ्ग की रङ्गशालाएँ बनने लगी हैं और उसी ढङ्ग
पर अभिनय होने लगे हैं। बँगला, मराठी और गुजराती की
नाट्यशालाओं और नाटक मण्डलियों आदि का आरम्भ और

हिंदी रङ्गशाला

विकास इन्हीं थोडे दिनो में हुआ है। यद्यपि उसी समय लगभग पहले पहल आधुनिक ढङ्ग की रङ्गशालाओ मे हिंदी नाटको का भी प्रवेश हुआ था, तथापि हिंदी के दुर्भाग्य से लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान न दिया, जिसके कारण आजकल हिंदी मे नाटको की दशा इतनी गिरी हुई है। यदि यह बात न होती तो आज हिंदी के नाटक भी अन्यान्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के समान बहुत उन्नत दशा मे होते। सब से पहले बनारस के बनारस थिएटर में सन् १८६८ मे पडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का बनाया हुआ जानकीमगल नाटक बहुत धूमधाम से खेला गया था। उसकी देखादेखी प्रयाग और कानपुर के लोगों न भी अपने अपने यहाँ रणधीर-प्रेममोहिनी और सत्यहरिश्चंद्र का अभिनय किया था। पर इसके उपरात हिंदी में अच्छे नाटकों के न बनने के कारण रङ्ग-शालाओं में हिंदी का प्रवेश ... सका और हिंदी भाषाभाषी प्राय पारसी थिएटरों के उर्दू नाटक देखकर ही सन्तुष्ट रहने लगे। कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि बँगला, मराठी या गुजराती आदि के नाटकों को देखते हुए पारसी थिएटरों के उर्दू नाटक कितने अधिक कुरुचिपूर्ण और निकृष्ट होते हैं। पर फिर भी हिंदी भाषाभाषी उन्हीं नाटकों के अभिनय देख कर अपने आपको धन्य माना करते थे। इधर पाँच सात वर्षों से पारसी कपनियो के थिएटरों मे भी हिंदी का प्रवेश हो चला है और दिन पर दिन उनमें खेले जानेवाले हिंदी नाटकों की संख्या बढती जाती है। अब तो कुछ ऐसी व्यवसायी मडलियाँ भी तैयार हो गई हैं जो बहुधा केवल हिंदी के ही नाटक खे

रती हैं। पारसी कपनियों मे तो अव कदाचित् ही कोई ऐसी हो जो दो चार हिंदी नाटको का अभिनय न करती हो। इस संबंध मे दिल्ली के पडित नारायणप्रसाद बेताब का उद्योग परम प्रशसनीय है जिन्होंने पहले पहल महाभारत नाटक की रचना करके और एक पारसी कपनी की रगशाला मे उसका अभिनय कराके लोगों का ध्यान कुरुचिपूर्ण नाटको की ओर से हटाया और उन्हे सुरुचिपूर्ण हिंदी नाटको की ओर प्रवृत्त किया। अब प्राय सभी स्थानों में लोग हिंदी नाटको का अभिनय बडे चाव से देखा करते हैं, जिससे आशा है कि थोडे ही दिनों में हिंदी भी नाट्य क्षेत्र मे भारत की अन्य भाषाओं के समकक्ष हो जायगी। इधर हिंदी मे मौलिक नाटको की रचना भी आरभ हो चली है और दिन पर दिन ऐसे नाटकों की सख्या बढने की सभावना है। हमारे लिये ये दोनों ही बातें बहुत आशाजनक और उत्साहवर्धक हैं।

सातवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य का विवेचन

श्रव्य काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बतला चुके हैं कि नाटक और उपन्यास मे बडा भारी भेद यह है कि नाटक का रूप बहुत कुछ रगशाला के प्रतिबधों के अनुसार निश्चित करना पडता है, पर उपन्यास में इस प्रकार का कोई प्रतिबध नहीं है, और नाटक कुछ ऐसे नियमों से जकडे रहते हैं जिनसे उपन्यास पूर्णतः स्वतत्र हैं। साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि उपन्यास की अपेक्षा नाटक मे यह विशेषता है कि नाटक के दृश्य-काव्य होने से उसमें जो सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है, वह उपन्यास मे नहीं आ सकती। पर हाँ, नाटक और उपन्यास के मूल तत्व प्राय एक ही है, इसलिये जो बातें उपन्यास के सबध में कही जा चुकी है, उनमें से अधिकाश नाटक के लिये भी ठीक उतरती हैं। पर उपन्यासकार को जिन परिस्थितियों में काम करना पडता है, उनसे नाटककार की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं, और इसी भिन्नता के कारण नाटक और उपन्यास में बहुत बडा अतर पड जाता है। नाटक और उपन्यास के इसी अतर को ध्यान में रख कर हम नाटक या दृश्य काव्य का विवेचन आरभ करते हैं। इसके उपरात हम कुछ ऐसी बातें बतलावेंगे जो नाटक और उपन्यास में पाई तो समान रूप से ही जाती हैं, पर जिनका उल्लेख

नाटक और उपन्यास

मने जान बूझकर उपन्यास के प्रकरण मे इसलिये नहीं किया ा कि नाटक का विवेचन करते समय ही वे सहज में समझाई ता सकती हैं।

सब से पहले हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नाटक दृश्य-काव्य है और उसकी इसी विशेपता के कारण उसकी रचना के सिद्धान्तों आदि मे भी कुछ विशेपताएँ आ जाती है। उपन्यास की रचना केवल पढ़ने के लिये होती है, पर नाटक की रचना रगशाला में अभिनय करने के लिये होती है। उपन्यास की रगशाला तो उसी मे होती है, पर नाटक की रगशाला उससे वाहर ओर अलग होती है। महाकाव्य और गद्य-काव्य तो हमे किसी बात की सूचना मात्र देकर रह जाते हैं, पर नाटक दूसरों का अनुकरण या नकल करके हमें सब बातें प्रत्यक्ष कर दिखलाते हैं। जब हम कोई उपन्यास या और कोई काव्य पढने बैठते हैं, तब हम वे सब बाते अनायास ही समझ लेते हैं। उसके अतिरिक्त हमें और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। पर जब हम कोई नाटक हाथ में लेकर पढने बैठते हैं, तब वह हमे उपन्यास के समान सर्वांगपूर्ण नहीं जान पडता, बल्कि हमें उस नाटक के लिये किसी और बात की आवश्यकता भी प्रतीत होती है। हमे कुछ ऐसे तत्वों की अपेक्षा होती है जो उसके केवल छपे हुए रूप में नहीं मिलते। बिना अभिनय के वह हमे कुछ अधूरा जान पडता है। और वास्तव में वह अधूरा होता भी है, क्योंकि बिना अभिनय के हमे उसके लेखक की वास्तविक योग्यता और छिपे हुए भावों आदि का पता नहीं

नाटकों की विशेपता

सातवाँ अध्याय

दृश्य काव्य का विवेचन

गद्य काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बतला चुके हैं कि नाटक और उपन्यास में बड़ा भारी भेद यह है कि नाटक का रूप बहुत कुछ रंगशाला के प्रतिबंधों के अनुसार निश्चित करना पड़ता है, पर उपन्यास में इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है, और नाटक कुछ ऐसे नियमों से जकड़े रहते हैं जिनसे उपन्यास पूर्णतया स्वतंत्र हैं। साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि उपन्यास की अपेक्षा नाटक में यह विशेषता है कि नाटक के दृश्य काव्य होने से उसमें जो सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है वह उपन्यास में नहीं आ सकती। पर हाँ, नाटक और उपन्यास के मूल तत्व प्राय एक ही हैं, इसलिये जो बातें उपन्यास के संबंध में कही जा चुकी हैं, उनमें से अधिकांश नाटक के लिये भी ठीक उतरती हैं। पर उपन्यासकार को जिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, उनसे नाटककार की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं, और इसी भिन्नता के कारण नाटक और उपन्यास में बहुत बड़ा अंतर पड़ जाता है। नाटक और उपन्यास के इसी अंतर को ध्यान में रख कर हम नाटक या दृश्य काव्य का विवेचन आरंभ करते हैं। इसके उपरांत हम कुछ ऐसी बातें बतलावेंगे जो नाटक और उपन्यास में पाई तो समान रूप से ही जाती हैं, पर जिनका उल्लेख

नाटक और उपन्यास

मने जान बूझकर उपन्यास के प्रकरण मे इसलिये नहीं किया ा कि नाटक का विवेचन करते समय ही वे सहज मे समझाई ा सकती हैं।

सब से पहले हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ाटक दृश्य-काव्य है और उसकी इसी विशेषता के कारण उसकी रचना के सिद्धान्तो आदि मे भी कुछ विशेषताएँ आ जाती हैं। उपन्यास की रचना केवल पढ़ने के लिये होती है, पर नाटक की ्चना रगशाला में अभिनय करने के लिये होती है। उपन्यास की रगशाला तो उसी में होती है, पर नाटक की रगशाला उससे बाहर और अलग होती है। महाकाव्य और गद्य-काव्य तो हमे किसी बात की सूचना मात्र देकर रह जाते हैं, पर नाटक दूसरो का अनुकरण या नकल करके हमें सब बातें प्रत्यक्ष कर दिखलाते हैं। जब हम कोई उपन्यास या और कोई काव्य पढने बैठते हैं, तब हम वे सब बातें अनायास ही समझ लेते हैं। उसके अतिरिक्त हमें और किसी वस्तु की आवश्यक्ता नहीं होती। पर जब हम कोई नाटक हाथ में लेकर पढने बैठते हैं, तब वह हमें उपन्यास के समान सर्वांगपूर्ण नहीं जान पडता, बल्कि हमें उस नाटक के लिये किसी और बात की आवश्यकता भी प्रतीत होती है। हमें कुछ ऐसे तत्वों की अपेक्षा होती है जो उसके केवल छपे हुए रूप में नहा मिलते। बिना अभिनय के वह हमें कुछ अधूरा जान पडता है। और वास्तव में वह अधूरा होता भी है, क्योंकि विना अभिनय के हमे उसके लेखक की वास्तविक योग्यता और छिपे हुए भावों आदि का पता नहीं

नाटकों की विशेषता

सातवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य का विवेचन

गद्य काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बतला चुके हैं कि नाटक और उपन्यास मे बड़ा भारी भेद यह है कि नाटक का रूप बहुत कुछ रगशाला के प्रतिबधों के अनुसार निश्चित करना पड़ता है, पर उपन्यास मे इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है, और नाटक कुछ ऐसे नियमों से जकडे रहते हैं जिनसे उपन्यास पूर्णतः स्वतत्र हैं। साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि उपन्यास की अपेक्षा नाटक मे यह विशेषता है कि नाटक के दृश्य काव्य होने से उसमे जो सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है वह उपन्यास में नहीं आ सकती। पर हाँ, नाटक और उपन्यास के मूल तत्व प्राय एक ही है, इसलिये जो बातें उपन्यास के सबध मे कही जा चुकी है, उनमें से अधिकाश नाटक के लिये भी ठीक उतरती है। पर उपन्यासकार को जिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, उनमे नाटककार की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं, और इसी भिन्नता के कारण नाटक और उपन्यास में बहुत बडा अतर पड़ जाता है। नाटक और उपन्यास के इसी अतर को ध्यान में रख कर हम नाटक या दृश्य काव्य का विवेचन आरंभ करते हैं। इसके उपरात हम कुछ ऐसी बाते बतलावेगे जो नाटक और उपन्यास में पाई तो समान रूप से ही जाती हैं, पर जिनका उद्देश्य

नाटक और उपन्यास

केवल उन्हीं घटनाओं आदि के दृश्य प्रस्तुत करता है जो बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण होती हैं। पूरी रामायण को छोड दीजिए, उसके किसी एक काड की सारी बातों को लेकर भी कोई अच्छा नाटक नहीं बनाया जा सकता। अच्छा और अभिनय के योग्य नाटक बनाने के लिये यह आवश्यक होगा कि उस काड की केवल मुख्य और महत्वपूर्ण बातें ले ली जायँ और साधारण बातें छोड दी जायँ। अथवा उनका उल्लेख ऐसे ढङ्ग से हो जिसमे बिना समय लगे ही दर्शकों को उनका ज्ञान हो जाय। इसी लिये हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कथावस्तु के दृश्य और सूच्य ये दो विभाग किए हैं। जिन घटनाओं आदि का अभिनय रगशाला में प्रत्यक्ष रूप से दिखलाया जाता है, वे दृश्य कहलाती हैं, और जो बातें या घटनाएँ किसी न किसी रूप में केवल सूचित कर दी जाती हैं, उनको सूच्य कहते हैं। अत नाटककार को उचित है कि जो बातें या घटनाएँ प्राचीन आचार्यों के अनुसार मधुर, उदात्त, रसपूर्ण तथा आजकल की अवस्था को देखते हुए महत्वपूर्ण, आवश्यक और प्रभावशालिनी हों, उन्हीं को वस्तु के दृश्य अङ्ग में स्थान दे, और जो बातें प्राचीन आचार्यों के अनुसार नीरस अथवा अनुचित और आजकल की अवस्था को देखते हुए निरर्थक या कम महत्व की हों, उन्हे वस्तु के सूच्य अग मे स्थान दे, अर्थात् दर्शकों को किसी प्रकार उनकी सूचना मात्र करा दे। बस, वस्तु के सम्बन्ध मे यही मुख्य सिद्धात हैं जिनका नाटक लिखने मे विशेष ध्यान रखना चाहिए। वस्तु के विस्तार और विभाग आदि का कुछ विवेचन आगे चलकर नाटकों के विभाग, प्रकार और भेद बतलाते समय किया जायगा।

के प्राय साथ ही साथ कुछ ऐसे नियम बन जाते हैं, जिनका पालन नाटककार के लिये आवश्यक होता है। उपन्यास पढ़ने में आप कई दिन, बल्कि कई महीने भी लगा सकते हैं, पर नाटक ऐसा ही होना चाहिए जो एक ही बैठक में, अथवा चार छ घंटों मे देखा जा सके। इसी लिये नाटक की वस्तु मर्यादित होती है। यदि कोई ऐसा नाटक हो, जैसा कि हिंदी में चौधरी बदरीनारायण कृत "भारत सौभाग्य" नाटक है, जिसके अभिनय में सारी रात लग जाय, तो वह नाट्य कला की दृष्टि से कभी नाटक कहलाने का अधिकारी न हो सकेगा। उपन्यास को तो आप जब चाहें, तब पढ़ने के लिये उठा सकते हैं और जब चाहें तब उसे बीच में ही छोड़ सकते हैं, पर नाटक के सम्बन्ध म यह बात नहीं हो सकती। यदि नाटक के दर्शक पहर डेढ़ पहर लगातार बैठे रहने के उपरात उकता जायँ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। और फिर उस दशा मे अच्छे से अच्छे दृश्य आदि भी उनका मनोरञ्जन करने में असमर्थ होंगे। यही कारण है कि यदि कोई नया या अनभिज्ञ लेखक कोई बहुत अच्छा, पर साथ ही बहुत बडा नाटक तैयार करता है, तो अभिनय के काम के लिये उसका एक अलग और सक्षिप्त रूप तैयार किया जाता है। अत पहला सिद्धात यह निकला कि नाटक यथासाध्य सक्षिप्त और ऐसा होना चाहिए जिसके अभिनय में इतना अधिक समय न लगे जिससे दर्शक ऊब जायँ। इस काम के लिये नाटककार को अपनी सारी सामग्री मे से बहुत ही काम की और मुख्य मुख्य बातें चुननी पड़ती हैं, और जो बातें नितात आवश्यक न हों, उन्हें छोड देना पडता है। अच्छा, नाटककार

केवल उन्हीं घटनाओं आदि के दृश्य प्रस्तुत करता है जो बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण होती हैं। पूरी रामायण को छोड़ दीजिए, उसके किसी एक कांड की सारी बातों को लेकर भी कोई अच्छा नाटक नहीं बनाया जा सकता। अच्छा और अभिनय के योग्य नाटक बनाने के लिय यह आवश्यक होगा कि उस कांड की केवल मुख्य और महत्वपूर्ण बातें ले ली जायँ और साधारण बातें छोड़ दी जायँ। अथवा उनका उल्लेख ऐसे ढङ्ग से हो जिसमें बिना समय लगे ही दर्शकों को उनका ज्ञान हो जाय। इसी लिये हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कथावस्तु के दृश्य और सूच्य ये दो विभाग किए हैं। जिन घटनाओं आदि का अभिनय रंगशाला में प्रत्यक्ष रूप से दिखलाया जाता है, वे दृश्य कहलाती हैं, और जो बातें या घटनाएँ किसी न किसी रूप में केवल सूचित कर दी जाती हैं, उनको सूच्य कहते हैं। अत नाटककार को उचित है कि जो बातें या घटनाएँ प्राचीन आचार्यों के अनुसार मधुर, उदात्त, रसपूर्ण तथा आजकल की अवस्था को देखते हुए महत्वपूर्ण, आवश्यक और प्रभावशालिनी हों, उन्हीं को वस्तु के दृश्य अङ्ग में स्थान दे, और जो बातें प्राचीन आचार्यों के अनुसार नीरस अथवा अनुचित और आजकल की अवस्था को देखते हुए निरर्थक या कम महत्व की हों, उन्हें वस्तु के सूच्य अंग में स्थान दे, अर्थात् दर्शकों को किसी प्रकार उनकी सूचना मात्र करा दे। बस, वस्तु के सम्बन्ध में यही मुख्य सिद्धांत हैं जिनका नाटक लिखने में विशेष ध्यान रखना चाहिए। वस्तु के विस्तार और विभाग आदि का कुछ विवेचन आगे चलकर नाटकों के विभाग, प्रकार और भेद बतलाते समय किया जायगा।

वस्तु की भाँति चरित्रचित्रण के सम्बन्ध में भी नाटक और उपन्यास में बहुत अंतर है। कुछ लोग कहा करते हैं कि नाटकों में नाट्य की ही प्रधानता होती है, इसलिये उसमें पात्र चरित्र चित्रण को विशेष महत्व देने की आवश्यकता नहीं, और कुछ लोग यही समझकर नाटक लिख भी डालते हैं। पर ऐसा समझना बड़ी भारी भूल है। नाटकों में भी चरित्र चित्रण का उतना ही अधिक महत्व रहता है, जितना कि उपन्यासों में उसे प्राप्त है। यदि किसी नाटक में केवल कोई कथानक या घटना-माला ही हो और उपयुक्त चरित्र चित्रण न हो, तो नाट्य-कला की दृष्टि से उसका महत्व अमानत की इन्दर-सभा से बढ़कर नहीं हो सकता। वास्तव में चरित्र-चित्रण ही नाटक का सर्वप्रधान और स्थायी तत्व है। शेक्सपियर या द्विजेंद्र-लाल राय के नाटकों का महत्व इसी लिये है, कि उनमें चरित्र चित्रण की प्रधानता है। उन नाटकों में मुख्यतः पात्रों के विचारों और भावों का विकास ही दिखलाया गया है, जो चरित्र चित्रण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। नाटक के दर्शकों पर सब से अधिक प्रभाव और परिणाम इसी चरित्र-चित्रण का पड़ता है। यदि किसी नाटक का वस्तु विन्यास तो बहुत अच्छा हो, पर उसमें चरित्र-चित्रण का अभाव हो, तो सम्भव है कि साहित्य-चेन में उस नाटक का आदर हो जाय, परन्तु रंगशाला में वह कभी सर्वप्रिय न हो सकेगा।

नाटक की कथावस्तु की भाँति उसका चरित्र-चित्रण भी सक्षिप्त होना चाहिए। किसी बहुत बड़े उपन्यास के लिये तो यह बात आवश्यक होती है कि उसमें चरित्र-चित्रण बहुत विस्तार-

पूर्वक हो, पर नाटककार को चरित्र चित्रण बहुत ही सकुचित सीमा के अन्दर करना पड़ता है, क्योंकि उसे थोड़े से दृश्यों में ही चरित्रचित्रण भी करना पड़ता है और अपनी कहानी भी पूरी करनी पड़ती है। नाटकों के कथोपकथन का प्रत्येक शब्द कुछ विशेष महत्त्व का और अर्थपूर्ण होना चाहिए और उसके प्रत्येक भाग का सारे नाटक से कुछ विशेष सम्बन्ध होना चाहिए। उसके प्रत्येक पात्र का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो सारी कथा-वस्तु को देखते हुए बहुत ही उपयुक्त और आवश्यक जान पड़े। नाटक के नायक या दूसरे प्रधान पात्रों के उन्हीं गुणों और विशेषताओं आदि का प्रदर्शन होना चाहिए जिनका सारे नाटक पर विशेष प्रभाव पड़ता हो। चरित्रचित्रण आदि में नाटककार को एक ऐसी कठिनता का सामना करना पड़ता है जिससे उपन्यास-लेखक बिलकुल मुक्त रहता है। उपन्यास-लेखक तो समय समय पर अपने उपन्यास के पात्रों में स्वय भी सम्मिलित हो जाता है और उनके भाव तथा विचार आदि स्पष्ट करने के लिये उनके सम्बन्ध में टीका टिप्पणी भी करता चलता है। पर नाटककार को अपनी ओर से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। विशेषत जिस अवसर पर नाटककार को अपने किसी पात्र के बहुत सूक्ष्म भावों का प्रदर्शन करना पड़ता है, उस समय तो उसकी कठिनता और भी बढ़ जाती है।

अब हमें यह तो मालूम हो गया कि उपन्यास और नाटक के चरित्रचित्रण में कहाँ और कितना अन्तर होता है। पर अब प्रश्न यह उठता है कि नाटक का चरित्रचित्रण होना कैसा चाहिए। जिन अवसरों पर उपन्यास-लेखक अपनी ओर से बहुत ही

आवश्यक बातें कह डालता है, उन अवसरों पर नाटककार को क्या करना चाहिए। इसका उत्तर यही है कि नाटककार को स्वय अपनी कथावस्तु और पात्रों के कथोपकथन से ही यह काम लेना चाहिए और यह दिखलाना चाहिए कि पात्र का रग ढग कैसा है। यह कहा जा सकता है कि उपन्यास-लेखक भी तो अपने उपन्यास की कथावस्तु और पात्रो के कथोपकथन से ही अपने पात्रों का चरित्र चित्रित करता है। यह ठीक है, परन्तु अन्तर यह है कि उपन्यासकार को आवश्यकता पड़ने पर इस बात की पूर्ण स्वतत्रता होती है कि वह अपनी ओर से भी टीका टिप्पणी अथवा स्पष्टीकरण कर दे। गद्य-काव्य के विवेचन में हम यह बतला चुके हैं कि उपन्यास के चरत्रचित्रण में विश्लेषात्मक या साक्षात् और अभिनयात्मक या परोक्ष इन दो उपायों का अवलम्बन किया जाता है। विश्लेषात्मक प्रणाली में उपन्यास लेखक समय समय पर आप ही अपने पात्रों के भावों और विचारों की व्याख्या करने लग जाता है, पर अभिनयात्मक में वह मानों आप अलग खड़ा रहता है और स्वय पात्रो को अपने कथन और व्यापार से तथा उसके सम्बन्ध में दूसरे पात्रों की टीका टिप्पणी तथा सम्मति से चरित्रचित्रण करने देता है। परन्तु नाटककार को पहले प्रकार की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं होती और उसके सारे चरित्रचित्रण का एक मात्र आधार अभिनयात्मक ही होता है, और इसी लिये नाटक के चरित्रचित्रण में उपन्यास के चरित्र चित्रण की अपेक्षा विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।

उपन्यास और नाटक दोनों में कथावस्तु बहुत कुछ चरित्रचित्रण के आश्रित होती है। अनेक अवसरों पर तो हमें कथा-

वस्तु से ही पात्रों के नैतिक और मानसिक गुणों का परिचय मिलता है। कुछ विशेष भावों और विचारों से प्रेरित कुछ विशेष स्वभाववाले लोग ऐसी परिस्थिति मे लाकर रखे जाते है जिसके कारण उनमें कुछ विशेष प्रकार के सम्बन्ध या विरोध स्थापित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कथा के विकास के साथ ही साथ हमे यह मालूम होता चलता है कि उन लोगों के स्वभाव, प्रवृत्तियाँ, उद्देश और विचार आदि क्या और कैसे हैं। बल्कि हम यह भी कह सकते हैं कि कथावस्तु या उसकी घटनाएँ आदि एक प्रकार से चरित्र के विकास का एक दूसरा रूप ही हैं। इसलिये चरित्रचित्रण और घटनाक्रम] ऐसा होना चाहिए जो आप ही दर्शकों को सब बातों का ज्ञान प्राप्त करा दे और उन्हें कथोपकथन या नाट्य आदि से विशेष सहायता लेने की आवश्यकता न पड़े। अर्थात यदि हम पात्रो के कथोपकथन आदि पर कुछ विशेष ध्यान न दें, तो भी हमें केवल वस्तु और चरित्र के विकास से ही नाटक की सब बातों का पता लग जाय और हम जान लें कि नाटक का कौन पात्र कैसा है।

कथोपकथन

यों तो, अच्छे नाटकों में, केवल वस्तु और पात्र से ही नाटक की मुख्य मुख्य बातों का पता चल जाता है, पर कथोपकथन से हमें उसकी सूक्ष्म बातें समझने में भी सहायता मिलती है। पात्रों के भावो, विचारों और प्रवृत्तियो आदि के विकास और विरोध आदि का बहुत कुछ पता हमें कथोपकथन से भी चलता है। कुछ नाटक ऐसे होते हैं जिनमें मनोविज्ञान के सिद्धातो का विशेष ध्यान रखकर चरित्र-चित्रण किया जाता है और कथावस्तु का सबध कुछ ऐसी बातों

के साथ भी होता है जो प्रत्यक्ष अभिनय में नहीं आतीं। उस अवस्था में कथोपकथन मानों अभिनय का एक प्रधान अंग हो जाता है। ऐसे नाटकों में कथोपकथन का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि कथावस्तु का सारा विकास और उसकी व्याख्या उसी कथोपकथन पर अवलंबित रहती है। परंतु फिर भी साधारणतः उपन्यास की भाँति नाटक में भी कथोपकथन का प्रत्यक्ष संबंध चरित्रचित्रण के साथ ही है। प्रायः उपन्यासों में भी किसी विषय की व्याख्या या स्पष्टीकरण आदि के लिये कथोपकथन का ही सहारा लिया जाता है और लेखक की टीका टिप्पणी अपेक्षाकृत कुछ कम ही होती है। पर नाटकों में तो लेखक को अपनी ओर से कुछ कहने या टीका टिप्पणी आदि करने का कोई अधिकार ही नहीं होता, इसलिये व्याख्या या टीका टिप्पणी आदि का सारा काम केवल कथोपकथन से ही लिया जाता है। इस प्रकार कथोपकथन भी चरित्रचित्रण का एक साधन सिद्ध होता है।

कथोपकथन के प्रकार

कथोपकथन के द्वारा दो प्रकार से चरित्रचित्रण होता है। एक तो कुछ पात्रों के आपस के कथोपकथन से उनके चरित्र का परिचय मिलता है, और दूसरे जब कोई पात्र किसी दूसरे पात्र का कोई उल्लेख या वर्णन करता है, तब उस उल्लेख या वर्णन से भी उस दूसरे पात्र के चरित्र का ज्ञान होता है। साधारणतः किसी पात्र की बातचीत से ही उसके चरित्र और आचरण आदि का बहुत कुछ पता लग जाता है। जो नाटककार मनोविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर ही नाटकों की रचना या पात्रों का चरित्रचित्रण करते हैं,

उनका मुख्य आधार प्राय कथोपकथन ही हुआ करता है। कुछ दर्शक ऐसे होते हैं जो विस्तृत कथोपकथन से जल्दी घबरा जाते हैं और जो यह चाहते हैं कि एक के पीछे एक घटनाएँ ही होती चली जायँ। ऐसे लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कुछ विशेष प्रकार के अच्छे नाटकों में केवल चरित्रचित्रण के लिये ही कथोपकथन का विस्तार किया जाता है। पर हाँ, वह विस्तार तभी तक क्षम्य है जब तक वह अस्वाभाविक न हो और चरित्रचित्रण में सहायक होता रहे। यदि किसी पात्र से स्वय उसी के सबध मे कोई बात कहलानी हो तो वह उससे अनजान में, सहज में, प्रसग लाकर और ऐसे ढग से कहलानी चाहिए जिसमे वह अस्वाभाविक न जान पड़े। कभी कभी ऐसा भी होता है कि आरभ मे हमें किसी पात्र के भावो, उद्देश्यो या विचारो आदि का कुछ भी वास्तविक ज्ञान नहीं होता, और कुछ दूर आगे बढने पर धीरे धीरे अथवा अचानक हमें उसके विचारों और भावों आदि का पता लग जाता है। आरभ में तो हम किसी पात्र को बहुत ही साधु और सच्चरित्र समझते हैं, पर आगे चलकर हमें पता चलता है कि वह बड़ा भारी धूर्त और ढोंगी है। उस दशा मे हमारा ध्यान फिर उसकी सारी पिछली बातो की ओर जाता है और हम आदि मे अत तक की उसकी उन बातों का मिलान करते हैं। पर अच्छे नाटककार, कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर, साधारणत इसी बात का उद्योग करते हैं कि प्रधान पात्रों के जिन मुख्य गुणों पर कथावस्तु आश्रित रहती है, उन गुणों का दर्शकों को जहाँ तक हो सके, शीघ्र और स्पष्ट ज्ञान हो जाय। पर यदि नाटककार अपने किसी

पात्र का कोई विशेष गुण या स्वभाव आरम्भ में गुप्त रखना चाहता हो और फिर सहसा उसे प्रकट करके दर्शकों को चकित करना चाहे, तो अपने इस उद्देश की सिद्धि के लिये उसे आरम्भ से ही ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें पात्र का वास्तविक स्वरूप प्रकट होने पर दर्शकों को आश्चर्य के साथ ही साथ अपूर्व आनन्द भी हो और वे समझ ले कि इस पात्र में यह परिवर्तन, इसकी अमुक अमुक बातों को देखते हुए, इसके स्वभाव और आचरण आदि के अनुरूप ही हुआ है।

किसी पात्र का अधिकाश चरित्रचित्रण प्राय उसी की बातचीत से होना चाहिए, और आवश्यकता पडने पर उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिये दूसरों के मुँह से भी उसके सम्बन्ध में कुछ कहला देना चाहिए। उनमें का कोई वाक्य परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए और सभी कथनो से प्राय एक अभिप्राय निकलना चाहिए। हाँ, किसी पात्र के विरोधी या शत्रु के मुँह से और और प्रकार की बातें अवश्य कहलाई जाती हैं। उदाहरणार्थ यदि शिवाजी के सम्बन्ध का कोई नाटक हो तो उसमें चाहे औरङ्गजेब और उसके कुछ साथियों के मुँह से शिवाजी के सम्बन्ध में भले ही कुछ उलटी सीधी बाते कहलाई जा सकती हैं, पर शेष अधिकाश पात्रों के मुँह से ऐसी ही बातें कहलानी चाहिएँ जिनसे शिवाजी के वास्तविक चरित्रचित्रण में ही सहायता मिलती हो और जो बातें आपस में एक दूसरी का समर्थन और पुष्टि करती हों।

हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कथोपकथन या दृश्य के तीन भाग किए हैं—नियत श्राव्य, सर्वश्राव्य और

। जिस समय रंगमंच पर कई पात्र होते हैं, उस समय
उनमें से कोई पात्र बाकी पात्रों से छिपा कर केवल कुछ

स्वगत कथन

नियत पात्रों से ही कुछ कहता है, तो उसे नियत श्राव्य कहते हैं, और यदि वह सभी पात्रों को सुनाने के लिये कोई बात कहता है, तो उसके कथन को सर्वश्राव्य कहते हैं। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि वह इस प्रकार कोई बात कहता है मानों वह किसी को सुनाना नहीं चाहता और न कोई उसकी बात सुनता ही है। ऐसे कथन को अश्राव्य, स्वगत या आत्मगत कहते हैं। ऊपर हम जिस कथन का उल्लेख कर आए हैं, वह नियत श्राव्य और सर्वश्राव्य दोनों के अंतर्गत आ सकता है। पर अब हम अश्राव्य या स्वगत के संबंध में कुछ कहना चाहते हैं। जिस अवसर पर उपन्यास-लेखक स्वयं अपनी ओर से प्रत्यक्ष टीका टिप्पणी करता है, उस अवसर पर नाटककार इस अश्राव्य या स्वगत कथन से काम लेता है। कथन के इस प्रकार का उद्देश बहुत ही स्पष्ट है। इस कथन-प्रकार के द्वारा नाटककार हमें उस पात्र के उन आन्तरिक और गूढ विचारों आदि से परिचित कराता है जिन्हें वह साधारण कथोपकथन में प्रकट नहीं कर सकता। कभी कभी किसी पात्र के आचरणों को समझने के लिये हमें उसके आन्तरिक भावों और विचारों से भी परिचित होने की आवश्यकता पड़ती है। उपन्यास लेखक तो स्वयं अपनी ओर से लिख कर भी हमें उन आन्तरिक भावों और विचारों से परिचित करा सकता है, पर नाटककार को ऐसे अवसर पर इसी स्वगत कथन की शरण लेनी पड़ती है। स्वगत कथन के समय पात्र मानों

अपने मन में कोई बात सोचता है, और जो कुछ सोचता है, वही अपने मुँह से इस प्रकार कह चलता है, मानों और कोई उसकी बातें सुनता ही नहीं। पर वह बोलता कुछ जोर से है, इसलिये, दर्शक उसकी सब बातें सुन लेते और उसके आन्तरिक भावों और विचारों से अवगत हो जाते हैं। यह ठीक है कि किसी मनुष्य का आप ही आप बड़बड़ाना या अपने आपसे बातें करना बिलकुल भद्दा और अस्वाभाविक जान पड़ता है। पर नाटक में कुछ विशेष परिस्थितियों में किसी पात्र के इस प्रकार बड़बड़ाने या अपने आपसे बातें करने की आवश्यकता पड़ती है। यदि कोई दुष्ट पात्र कोई भारी दुष्टता का काम करना चाहता है और वह किसी दूसरे पात्र को अपने विचारों से अवगत नहीं करना चाहता, तो उस दशा मे इस स्वगत के अतिरिक्त और कोई ऐसा उपाय ही नहीं रह जाता, जिससे सहज मे और तत्काल दर्शकों को उसके दुष्ट विचारों का पता लग सके। स्वगत कथन में पात्र मानो अपने मन मे ही कोई बात सोचता या कोई बाँधनू बाँधता है, किसी बात का ऊँच-नीच और भला-बुरा सोचता है या इसी प्रकार का और कोई कृत्य करता है। पर जो कुछ वह मन में सोचता या समझता है, वह मानो आपसे आप उसके मुँह से निकलता चलता है। यदि उसके वे विचार नाटक के किसी दूसरे पात्र पर प्रकट हो जायँ, तो संभव है कि उसका उद्देश सिद्ध न हो या उसके सारे मसूबे मिट्टी मे मिल जायँ। इस-लिये ऐसा कथन नाटक के दूसरे पात्रों के लिये सर्वथा अश्राव्य होता है। वास्तव में चाहे वे उसका कथन सुनते भी हों, पर उनके लिये वह रहता अनसुना ही है। दर्श

की कथावस्तु से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता, इसलिये लेखक इस कथन प्रकार के द्वारा दर्शकों पर उसके वे गुप्त भाव और विचार आदि प्रकट कर देता है। परन्तु लेखक को, जहाँ तक हो सके, इस स्वगत कथन से बहुत ही थोड़ी सहायता लेनी चाहिए, और जो भाव या विचार आदि नियत श्राव्य या सर्वश्राव्य कथन के द्वारा अच्छी तरह प्रकट किए जा सकते हों, उनके लिये कभी स्वगत-कथन का सहारा न लेना चाहिए। पाश्चात्य देशों के आधुनिक साहित्यवेत्ता इस कथन-प्रकार को पुराना और अनुचित समझने लगे हैं, और इससे बचने के लिये कुछ नाटककार आवश्यकता पड़ने पर एक नई युक्ति से काम लेने लगे हैं। वे केवल इसी लिये एक ऐसे नए पात्र का प्रवेश और बढ़ा देते हैं जो स्वगत कथन करनेवाले पात्र का विश्वास-भाजन होता है। उस दशा में उस पात्र को स्वगत-कथन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती और वह अपने सब आन्तरिक भाव उसी विश्वसनीय व्यक्ति पर प्रकट कर देता है।

इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ एक और प्रकार का कथन होता है जो पाश्चात्य देशों के नाटकों में नहीं होता। इसे आकाश भाषित कहते हैं। इसमें पात्र ऐसा नाट्य करता है मानों उससे कोई कुछ पूछ रहा है, और तब वह उसका उत्तर देता है। कभी कभी यह कथन प्रकार बहुत उपयोगी और रोचक होता है और इससे दृश्य का सौंदर्य बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में जब राजा हरिश्चद्र बिकने के लिये काशी की गलियों में घूमते हैं और कहते फिरते हैं कि कोई हमें मोल ले ले, तब बीच में ऊपर की

आकाश भाषित

ओर देखकर मानों किसी के प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—"क्या कहा ? तुम क्यों ऐसा दुष्कर कर्म करते हो ? आर्य, यह मत पूछो। यह सब कर्म की गति है।" (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा ? तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो और किस तरह रहोगे ? इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा, वह करेंगे, समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता, और जैसे स्वामी रखेगा, वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया, तब इसका क्या विचार है।" (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा, कुछ दाम कम करो। आर्य, हम लोग क्षत्रिय हैं। हम दो बातें कहाँ से जानें। जो कुछ ठीक था, वह कह दिया।" इसी प्रकार मुद्राराक्षस में दूसरे अंक के आरंभ में मदारी आते ही कहता है—"(आकाश में देखकर) महाराज क्या कहा ? तू कौन है ? महाराज, मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूँ।" (फिर आकाश की ओर देखकर) "क्या कहा कि मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ, खेलूँगा ? तो आप काम क्या करते हैं, यह तो कहिए ?" (फिर आकाश की ओर देखकर) "क्या कहा, मैं राज-सेवक हूँ ? तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं।" (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा, जैसे, मंत्र और जड़ी बिन मदारी और आँकुस बिन मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नए अधिकार के संग्राम विजयी राजा के सेवक ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं।"

कथोपकथन के उपरांत हमारे क्रम में देश काल का स्थान आता है। यों तो उपन्यास में देश काल के संबंध में जिन बातों का विचार रखना पड़ता है, प्रायः उन सभी बातों का विचार नाटक के देश-काल में भी रखना पड़ता है, पर देश-काल का

वेवेचन करते हुए हमें प्रसगवश नाटक के सकलनत्रय पर विचार

सकलन त्रय

करना आवश्यक जान पडता है। यह सकलन काल और देश के अतिरिक्त वस्तु के सबध मे भी होता है। इनको वस्तु सकलन, काल सकलन और देश या स्थल सकलन कहते हैं। यद्यपि ये तीनों सकलन प्राचीन यूनानी नाटको के मुख्य अङ्ग थे और अब प्राय फ्रासीसी नाटकों को छोडकर और कहीं देखने में नहीं आते, तथापि इन पर भी कुछ विचार करना आवश्यक जान पडता है। प्राय आक्षेप किया जाता है कि भारतीय नाटको मे इस सकलन-त्रय का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता। अत यहाँ पर हम यह दिखलाने का उद्योग करेंगे कि यह सकलन-त्रय किस सीमा तक आवश्यक है और उसके उपरात कहाँ से अनावश्यक और निरर्थक हो जाता है। इस विवेचन से यह भी सिद्ध हो जायगा कि आगे के नाटकों में इस सकलन-त्रय का कितना और कैसा विचार रखना चाहिए। प्राचीन यूनानी आचार्यों ने यह सिद्धात स्थिर किया था कि आदि से अत तक सारा अभिनय किसी एक ही कृत्य के सबध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान का होना चाहिए और एक ही दिन का होना चाहिए। अर्थात् एक दिन मे एक स्थान पर जो जो कृत्य हुए हों, उन्हीं का अभिनय एक बार में होना चाहिए। नाटक-रचना का यह नियम यूनान मे इटली में और इटली से फ्रांस में गया था, जहाँ बहुत दिनों तक इसका पालन होता रहा। पर थोडा सा विचार करने से ही हमें इस बात का पता चल जाता है कि सकलन-सबधी यह नियम कितना भद्दा और कला की दृष्टि से कितना दूषित है। सकलन का यह नियम

आज से दो हजार वर्ष पहले के यूनानियों को भले ही अच्छा लगता रहा हो, पर आजकल यदि इस नियम के अनुसार नाटक रचे और खेले जायँ तो उनको कोई पूछे भी नहीं। हम यह नहीं कहते कि नाटक में सकलन का कुछ भी ध्यान नहीं रखना चाहिए। सकलन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, पर उसके कारण कला के सौंदर्य और उसकी उपयोगिता का नाश नहीं होना चाहिए। इसी बात का ध्यान रखकर शेक्सपियर ने संकलन-त्रय के इस नियम का मनमाना उल्लघन किया था। उसके नाटकों में से प्राय सभी में अनेक स्थानों और अनेक वर्षों की घटनाएँ आ जाती हैं। प्राचीन काल के यूनानी नाटक बहुत ही सादे होते थे और उनमें बहुधा तीन या पाँच ही पात्र हुआ करते थे। उन नाटकों मे इन नियमों का पालन सहज में हो सकता था। पर आजकल के नाटकों और रगशालाओं की अवस्था उस समय के नाटकों और रगशालाओं की अवस्था से बिलकुल भिन्न है। अत अब इन नियमो के तद्वत् पालन की आवश्यकता नहीं रही, और न अच्छे ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक नाटकों में इन नियमों का पालन सभव ही है। इन नियमों के पालन से लेखक को अपनी पूरी सामग्री का उपयोग करने का अवसर नहीं मिलता और उसकी कृति में अस्वाभाविकता आदि दोष आ जाते हैं। हाँ, नाटककार को अपनी रचना में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथा का निर्वाह आदि से अत तक बिलकुल एक समान हो, आदि से अत तक एक ही मुख्य कथावस्तु और एक ही मुख्य सिद्धांत हो। कुछ गौण कथावस्तुएँ और सिद्धात भी उसमें समाविष्ट हो सकते है, पर उनका समा-

...श ऐसे ढग से होना चाहिए जिसमें मूल कथावस्तु या सिद्धात ...के साथ उनका ओतप्रोत सबध स्थापित हो जाय और वे कहीं ...भी अलग या उखड़े हुए न जान पड़ें। प्राय पारसी नाटक मड-...लियों के उर्दू नाटकों में यह बड़ा भारी दोष देखने मे आता है ...कि वे मूल कथावस्तु मे हास्य रस-प्रधान एक और ऐसी कथावस्तु ...जोड़ देते हैं जिसका मूल कथावस्तु के साथ वास्तव मे कुछ भी ...सबध नहीं होता और जो आदि से अत तक बिलकुल अलग ...रहती है। गौण या प्रासगिक कथावस्तु के कारण मूल या ...आधिकारिक कथावस्तु मे कभी बाधा न पड़ने देनी चाहिए, ...क्योंकि प्रासगिक कथावस्तु का उद्देश आधिकारिक कथावस्तु की ...सौंदर्य-वृद्धि ही है। प्रासगिक कथावस्तु का इतना विस्तार न ...होना चाहिए कि उसके आगे मूल या आधिकारिक कथावस्तु ...दब जाय और प्रासगिक कथावस्तु ही आधिकारिक कथावस्तु ...जान पड़ने लगे।

...वस्तु के सकलन के उपरात काल या समय का सकलन ...आता है। समय सकलन का यदि बिलकुल ठीक ठीक अर्थ लिया जाय, तो यही सिद्धात निकलता है कि जो कृत्य वास्तव में जितने समय में हुआ हो, उसका ...अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए। इस नियम का ...अपने वास्तविक अर्थ में पालन प्राचीन यूनानियों के नाटकों को ...ही शोभा देता होगा, पर और कभी या कहीं यह अभीष्ट नहीं ...हो सकता। प्राचीन यूनानी नाटक दिन दिन और रात रात भर ...होते रहते थे, इसलिये यूनान के सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता अरिस्टाटल ...ने यह नियम बना दिया था कि एक दिन और रात अर्थात्

...काल-सकलन

चौबीस घंटों में जो जो कृत्य हुए अथवा हो सकते हों, उन्हीं का समावेश एक अभिनय में होना चाहिए। पीछे से एक फ्रांसीसी नाटककार ने यह नियम बना दिया कि चौबीस नहीं बल्कि तीस घंटों में जो जो कृत्य हो सकते अथवा हुए हों, उन्हीं का समावेश एक नाटक में होना चाहिए। पर साधारणतः नाटक प्रायः तीन चार घंटे में ही पूरे हो जाते हैं, इसलिये यदि चौबीस या तीस घंटों का काम तीन चार घंटों में कर दिखलाया जाय तो उसमें भी समय सकलन नहीं रह सकते। और यदि तीन चार घंटों के अंदर चौबीस या तीस घंटों के कृत्य दिखलाने में समय सकलन का पालन हो सकता है, तो फिर साल छः महीने का कृत्य दिखलाने में वह क्यों बाधक होता है? इससे सिद्ध है कि सकलन का यह नियम यूनानी नाटकों की बिलकुल आरंभिक अवस्था में बना था और पीछे से कुछ लोगों ने बिना समझे बूझे उसका पालन किया था। पर अब प्रश्न यह होता है कि नाटक रचना में काल या समय के सकलन का कहाँ तक और किस रूप में ध्यान रखना चाहिए। हमारी समझ में नाटक की घटनाएँ चाहे एक दिन की हों, चाहे एक सप्ताह की हो, चाहे एक मास की हो, चाहे एक वर्ष की हों और चाहे इससे भी अधिक समय की हों, समय-सकलन को उसमें कभी बाधक न होना चाहिए। यदि समय-सकलन का यूनानी या फ्रांसीसी अर्थ लिया जाय तो फिर आजकल की दृष्टि से किसी अच्छे नाटक की रचना हो ही नहीं सकती। हाँ, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि घटनाओं का क्रम बिलकुल ठीक हो, पीछे होनेवाली घटनाओं का उल्लेख पहले होनेवाली घटनाओं

-ग दृश्यों के पीछे न हो। दूसरी बात यह है कि दो घटनाओं के बीच में जो समय वास्तव में बीता हो, उस पर दर्शकों का ध्यान न जाने पावे। मान लीजिए कि पहले अक के पहले दृश्य मे जो घटना दिखलाई गई है, नाटककार उसके दो चार महीने पीछे की कोई घटना दिखलाना चाहता है। उस दशा में उसे वह पिछली घटना तुरत दूसरे ही दृश्य मे न दिखलानी चाहिए, बल्कि बीच मे दो एक और दृश्य रखकर तब दिखलानी चाहिए, और इन दोनों घटनाओं या दृश्यो के बीच में या तो बीच की कुछ घटनाएँ दिखलानी चाहिएँ या और कोई प्रासगिक कथावस्तु ला रखनी चाहिए। यदि ऐसा न किया जायगा तो पहले दृश्य में आज की ओर दूसरे ही दृश्य मे आज से चार या छ महीने पीछे की घटना देखकर साधारण दर्शकों के मन में भी स्वभावत यह प्रश्न उठेगा कि इतनी जल्दी यह समय कैसे बीत गया, अथवा इस बीच की और सब घटनाएँ क्या हुई ? पर यदि उन दोनो दृश्यो के बीच में दो एक और दृश्य रख दिए जायँगे, तो फिर दोनों घटनाओं के बीच के समय की ओर दर्शकों का ध्यान विशेष न जायगा और उनको घटना या वस्तु के विकास में कोई अस्वाभाविकता न मिलेगी। तीसरी बात यह है कि साधारणत नाटकों में दो चार वर्षों की घटनाएँ सहज में रख सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिये रचना-सबधी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता होती है। वह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतनेवाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पावे और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि

बीच मे इतना समय बीता है। हमे स्मरण है कि एक बार एक पारसी नाटक मे पहले अक की समाप्ति के उपरात जब फिर हम दूसरा अक देखने के लिये जाकर बैठे, तो कथावस्तु का विकास हमारी समझ में कुछ भी न आया और हम कुछ चकित से हो गए। जब हमने कथावस्तु को ठीक तरह से समझने के लिये अपने एक मित्र से "खुलासा तमाशा" लिया, तब दूसरे अक के आरभ मे हमने लिखा हुआ पाया—"चौदह बरस बाद के हालात"। अब जिस दर्शक के पास यह "खुलासा तमाशा" न हो, उसकी समझ में कथावस्तु का विकास क्योंकर आ सकता है? इसलिये घटनाक्रम ऐसा न होना चाहिए जिसम दर्शकों को यह बतलाने की आवश्यकता पडे कि अमुक अमुक घटनाओं के बीच मे इतने इतने समय का अतर है। वह अतर तो बिना बतलाए आपसे आप दर्शकों की समझ मे आ जाना चाहिए और उनको यह कहने का अवसर न मिलना चाहिए कि समय सकलन का नियम भग हुआ। अर्थात् नाटककार को समय-सकलन का वही अर्थ लेना चाहिए जो साधारण दर्शक आदि लेते हैं। इसके अतिरिक्त नाटककार के लिये समय-सकलन का कोई नया अर्थ नहीं हो सकता।

शकुतला नाटक के पहले अक मे राजा दुष्यत की शकुतला के साथ भेंट होती है। तीसरे अक मे पहले उनका मिलाप होता है और तब दोनों का विछोह होता है। इसके उपरात बीच में जो समय बीतता जाता है, उस पर हमारा विशेष ध्यान नहीं जाता और सातवें अक में दुष्यत अपने कुमार सर्वदमन को सिंह के बच्चों के साथ खेलता हुआ पाता है। फ्रासीसी नाटककार

के लिये ऐसा नाटक बिलकुल हास्यास्पद होगा। पर वास्तव में इसमें हँसी की कोई बात नहीं है। दर्शक जिस समय नाटक देखने के लिये बैठते हैं, उस समय वे रस मे निमग्न हो जाते हैं। पर साथ ही उन्हे इस बात का भी ध्यान रहता है कि हम अभिनय देख रहे हैं। जब एक अक की समाप्ति पर दूसरा अक आरभ होता है, तब हम समझ लेते हैं कि नाटक की कथावस्तु का नया काल आरभ हुआ है, क्योंकि नाटक मे भिन्न भिन्न समयों की बातों का अभिनय होता है। इसलिये हमे किसी प्रकार का आश्चर्य नही होता और हमें नाटक में केवल आनन्द मिलता है।

शकुतला के इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि हमारे प्राचीन आर्य भी समय-सकलन का महत्त्व समझते और उसका ध्यान रखते थे। यही नहीं, बल्कि हमारे यहाँ समय सकलन का कई दृष्टियों से और पूरा पूरा ध्यान रखा जाता था। हमारे यहाँ रूपक के दस प्रकार माने गए हैं। उनमे से छठा प्रकार व्यायोग है। नियम है कि व्यायोग एक ही अङ्क का होना चाहिए और उसमें एक ही दिन का चरित्र रखा जाना चाहिए। रूपक का सातवाँ प्रकार समवकार तीन अकों का होना चाहिए। इसके पहले अङ्क मे बारह घड़ियों का चरित्र या वृत्तात, दूसरे अङ्क में किसी के मत से चार घडियों का और किसी के मत से तीन घडियों का वृत्तात और तीसरे अङ्क में दो घड़ियों का वृत्तात या चरित्र होना चाहिए। इसी प्रकार उपरूपक का दुर्मल्लिका नामक जो पद्रहवाँ प्रकार है, उसमें चार अङ्क होते हैं। पहले अङ्क में विट की क्रीड़ा तीन घडी की, दूसरे अङ्क में विदूषक का

विलास पाँच घडी का, तीसरे अङ्क मे पीठमर्द का विलास छ घड़ी का और चौथे अङ्क मे नायक की क्रीडा दस घड़ी की होनी चाहिए। इन नियमों से सिद्ध होता है कि भारतीय नाटकों में औरो की अपेक्षा समय संकलन का ध्यान बहुत अधिक और अच्छे ढग मे रखा जाता था।

अब तीसरा सकलन स्थल या देश का है। यूनानियों के स्थल-सकलन का अर्थ यह है कि रगशाला का दृश्य आदि से अन्त तक एक ही रहना चाहिए। अर्थात् नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए जो एक ही स्थान म एक ही दृश्य मे दिखलाई जा सके। अभिनय के बीच में रगभूमि के दृश्य में इस नियम के अनुसार किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। यूनानियों ने यह नियम इसलिये बनाया था कि उनके नाटकों के गानेवाले आदि से अन्त तक रगभूमि पर ही उपस्थित रहते थे और बीच बीच में आवश्यकता पडने पर गाने लग जाते थे। उनमे अङ्क और गर्भांक आदि तो होते ही न थे, इसलिये नाटक के बीच में कहीं विश्राम भी न होता था। जितनी देर तक गानेवाले गीत गाते रहते थे, उतनी देर तक दर्शकों के लिये एक प्रकार से विश्राम हो जाता था, पर रगशाला मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उनके नाटकों की रचना भी इतनी सादी और साधारण होती थी कि उन्हे स्थल के दृश्य में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता ही न होती थी। और यदि किसी अच्छे नाटककार को कभी नाटक का सौंदर्य बढाने के लिये दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता भी पडती थी, तो वह सकलनवाले इस नियम का पालन

स्थल सकलन

करने के लिये उसे बचा जाता था। नाटकों में अनेक ऐसे प्रयोग होते हैं जो उनके कर्ता पात्रों के अतिरिक्त दूसरे पात्रों के सामने नहीं होने चाहिएँ। पर यूनानी नाटकों में ऐसे प्रयोग भी सभी पात्रों के सामने हुआ करते थे। यह व्यवस्था कला की दृष्टि से दूषित और साथ ही नाटक के तत्वों का ध्यान रखते हुए बहुत कुछ अस्वाभाविक थी, इसी लिये हमारे यहाँ इसका ग्रहण नहीं हुआ। इन्हीं सब बातों का विचार करते हुए अनेक विद्वानों का यह मत है कि यूनानियों या लैटिनों आदि की अपेक्षा हिंदुओं की सृष्टि-सौंदर्य की कल्पना अधिक ललित और वर्णन अधिक सजीव होता है।

उद्देश

उपन्यासों और नाटकों के पाँचवें तत्त्व शैली पर अलग नवें अध्याय में विचार किया गया है, इसलिये न तो हमने गद्य-काव्य के विवेचन में ही उस पर विचार किया है और न दृश्य काव्य के विवेचन में उस पर विचार करने की आवश्यकता है। इसलिये अब हम नाटक के छठे तत्व उद्देश को लेते हैं। उपन्यास की भाँति नाटक के उद्देश से भी हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। इस सम्बन्ध में गद्य काव्य के विवेचन में हम जो कुछ कह आए हैं, उसे यहाँ दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वहाँ उपन्यास के उद्देश के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है, वही नाटकों के सम्बन्ध में भी अक्षरशः ठीक समझना चाहिए। यहाँ हम पहले यह बतलाना चाहते हैं कि नाटकों के द्वारा जीवन की व्याख्या किस प्रकार होती है और तब नाटक के उद्देश के सम्बन्ध में दो एक विशेष बातें बतलाने का उद्योग करेंगे।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उपन्यास-लेखक तो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से जीवन की व्याख्या करता है, पर नाटककार केवल प्रत्यक्ष रूप से ही यह काम कर सकता है। एक विद्वान् का मत है कि उपन्यास जीवन की सब से अधिक विस्तृत व्याख्या है। इसके विपरीत नाटक का यह क्षेत्र बहुत ही सकुचित है, क्योंकि इसमें नाटककार को स्वय कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। उपन्यासकार तो जीवन की व्याख्या करने का सब काम स्वय करता है, पर नाटक में जीवन की व्याख्या समझने का सारा भार पाठकों या दर्शकों के ऊपर आ पड़ता है। नाटक में नाटककार स्वय कभी हमारे सामने नहीं आता, बल्कि किसी न किसी पात्र के रूप में आता है, और उस दशा में स्वय दर्शकों को ही उसका अभिप्राय और उद्देश समझना पड़ता है। कोई पात्र जितनी बातें कहता या जितने विचार प्रकट करता है, उन सब के लिये नाटककार ही उत्तरदायी माना जाता है। इस लिये नाटक के समस्त पात्रों के कथनों का आपस में मिलान करके और उनका ठीक ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश का निर्णय किया जाता है। यदि हम किसी एक ही पात्र के किसी एक ही कथन को लेकर यह बतलाना चाहें कि अमुक नाटक का उद्देश यह है, तो बहुत सभव है कि हमारा निश्चित किया हुआ सिद्धात भ्रम-पूर्ण सिद्ध हो। पर हाँ, किसी किसी पात्र के उद्गार अवश्य ऐसे होते हैं जो वास्तव में नाटककार के हृदय से ही निकले हुए होते हैं। बस ऐसे ही उद्गारों को चुनकर हमें किसी नाटक का उद्देश स्थिर करना चाहिए। नाटक के जिन पात्रों के साथ हमारी सहानुभूति हो, उनके उद्गारों की तुलना

ऐसे पात्रों के उद्गारों के साथ करनी चाहिए जिनके साथ हमारी सहानुभूति न हो, और तब फिर हमें नाटक का उद्देश स्थिर करने में कोई कठिनता न होगी। जिन पात्रों के साथ हमारी कोई सहानुभूति नहीं होती, उनके उद्गार भी हमें कभी कभी अप्रत्यक्ष रूप में नाटक का उद्देश और जीवन की व्याख्या समझने में सहायता देते हैं। इसी लिये हमने ऊपर कहा है कि हमें सारे नाटक पर एक साथ विचार करके नाटक का उद्देश या नैतिक महत्व समझना चाहिए। रंगमंच पर हमें जो सृष्टि दिखाई देती है, उसका स्रष्टा नाटककार ही होता है, इसलिये उस सृष्टि में नाटककार के भावों, विचारों और आदर्शों आदि का होना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है। उसकी रची हुई उसी सृष्टि से हमें इस बात का पता चलता है कि वह संसार को किस दृष्टि से देखता है, उसका क्या अर्थ समझता है और नैतिक आदर्शों को कहाँ तक महत्व देता है। जीवन का जो कुछ अर्थ उसकी समझ में आता है, वही अर्थ वह अपनी उस कृति के द्वारा लोगों को समझाने का प्रयत्न करता है। इसलिये नाटकों की सभी बातों का ठीक ठीक विश्लेषण करके उसका उद्देश या अभिप्राय स्थिर किया जाता है। यहाँ प्रसंगवश हम यह भी कह देना चाहते हैं कि इस दृष्टि से भारत के प्राचीन नाटक बहुत उच्च कोटि के माने जाते हैं, क्योंकि उनमें सब से अधिक जोर जीवन की व्याख्या पर ही दिया जाता है और सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श ही उपस्थित किए जाते हैं।

अँगरेजी के सुप्रसिद्ध कवि शेली ने एक अवसर पर कहा है—"काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो संबंध है,

वह नाटक मे सब से अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि जो समाज जितना ही उन्नत होता है, उसकी रगशाला भी उतनी ही अधिक उन्नत होती है। यदि किसी देश में किसी समय बहुत ही उच्च कोटि के नाटक रहे हों और पीछे से उन नाटकों का अत हो गया हो, अथवा उनमे कुछ दोष आ गए हो, तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस देश का उस समय का नैतिक पतन है।" इस कथन क आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दूषित नाटक किसी जाति के नैतिक पतन के सूचक होते हैं, उसी प्रकार अच्छे नाटक नैतिक उन्नति के सूचक होते हैं, और यदि नाटक के आदर्श मे उत्तरोत्तर उन्नति होती जाय तो समझना चाहिए कि देश की नैतिक उन्नति हो रही है। इससे सिद्ध है कि नाटकों का सब से बडा उपयोग नैतिक उन्नति और सामाजिक कल्याण में होता है, और नाटकों के इसी उपयोग को ध्यान मे रखकर नाटक लिखे जाने चाहिएँ। आजकल के फ्रांसीसी नाटको मे विवाह, तिलाक और हरामी लडकों के पैतृक उत्तराधिकार सबधी दृश्य और अभिनय ही अधिकता से देखने मे आते हैं, और इन नाटकों से ही इस बात का पता चल जाता है कि आजकल फ्रांसीसियो का कितना अधिक नैतिक पतन हो रहा है। जर्मन नाटकों की भी प्राय ऐसी ही दुर्दशा है। ये सब बातें देखकर वहाँ के देशहितैषी सज्जन बहुत दुखी हो रहे हैं और ऐसे नाटको के नाश पर बहुत जोर दे रहे हैं, क्योंकि वे जानते है कि यदि शीघ्र ही इस प्रकार के नाटको और अभि-नयों का अत न होगा, तो देश, नैत्तिक दृष्टि से, रसातल को

दिखलाया जायगा। अतः नाटक लिखते समय लेखकों को उनमें सदा ऐसे उच्च आदर्शों और सामाजिक विचारों को स्थान देना चाहिए जो देश और समाज की उन्नति में पूर्ण रूप से सहायक हों। इसी लिये हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही नाटक की कथावस्तु के फल अथवा कार्य है, अर्थात् नाटकों से इन तीनों अथवा इनमें से किसी एक या दो की सिद्धि होना आवश्यक है। जिस नाटक से इनमें से किसी एक की भी सिद्धि न हो, वह नाटक ही निरर्थक है। धर्म, अर्थ अथवा काम की सिद्धि का अर्थ यह है कि मनुष्य की धार्मिकता और नीतिमत्ता बढ़े, उसमें उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह करने की योग्यता आने और उसका आचरण सुधरे।

नाटकों का ठीक ठीक विवेचन करके सब से पहले यह समझना आवश्यक है कि नाटक के मूल सिद्धांत क्या हैं। बहुधा आधुनिक नाटकीय कहानियों का मूल तत्व किसी न किसी प्रकार का विरोध हुआ करता है। नाटक में दो विरोधी भाव, पक्ष, सिद्धांत या दल आदि दिखलाए जाते हैं, और उन्हीं दोनों के विरोध के साथ-साथ कथावस्तु का विकास होता चलता है। साधारण नाटकों में यह विरोध प्राय व्यक्तिगत रूप में ही सामने आता है। किसी महात्मा और दुरात्मा या किसी सच्चे वीर और दुष्ट बलवान् का विरोध और अंत में उस महात्मा या वीर आदि की विजय या जय ही अधिकांश नाटकों में दिखलाया जाता है। पर अच्छे नाटकों में यह विरोध और भी अनेक रूपों में दिखलाया जा सकता है। किसी वीर को अपने दुर्भाग्य अथवा विकट परिस्थि-

नाटक रचना के सिद्धांत

तियों का सामना करना पड़ता है, और किसी विचारवान् को स्वय अपने ही तामस भावों का दमन करना पडता है। ता यह कि प्राय किसी न किसी प्रकार का विरोध वा ही नाटक का मूल आधार होती है। नाटक मे जहाँ से यह विरोध या सघर्ष आरभ होता है, मानो वहीं से मुख्य कथावस्तु का आरभ होता है, और जहाँ इस विरोध या सघर्ष का कोई परिणाम निकलता है, वहीं मानो कथावस्तु का अत हो जाता है। जब कथावस्तु का आरभ और अत निश्चित हो गया, तब हम सहज में कह सकते हैं कि इन दोनों स्थानों के मध्य मे कथावस्तु का विकास किस ढग से होता है। कथावस्तु के आरभ से जो सघर्ष या विरोध उत्पन्न होता है, वह पहले एक निश्चित सीमा तक बढता जाता है, और उस सीमा के उपरात किसी एक पक्ष या दल की जीत आरभ होने लगती है, और तब अत मे सद् की असद् पर अथवा असद् को सद् पर विजय प्राप्त होती है। बीच मे कभी कभी अत में विजय पानेवाला दब भी सकता है, पर फिर भी उसकी विजय-प्राप्ति मे कोई बाधा नहीं पडती। इसलिए आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकारों ने नाटक को पाँच भागों में विभक्त किया है। पहला आरभ, जिसमे विरोध उत्पन्न करने वाली कुछ घटनाएँ होती हैं, दूसरा विकास, जिसमे वे विरोध और झगडे बढते हैं, तीसरा चरम सीमा, जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय का आरभ होता है और चौथा उतार या निगति, जिसमें विजयी दल की विजय निश्चित हो जाती है, और पाँचवाँ अन्त या समाप्ति, जिसमें उस विरोध या झगडे का अन्त हो जाता है। पर हमारे यहाँ के आचार्यों का मत इससे कुछ भि

४। विरोध और झगडे आजकल की सभ्यता के परिणाम हैं; अथवा कम से कम इनका विकास और वृद्धि आजकल की सभ्यता में हुई है। प्राचीन भारत में भी विरोध और झगड़े थे, पर वे इतने अधिक और प्रत्यक्ष नहीं थे कि रंगशालाओं पर उनके अभिनय की आवश्यकता होती। हमारे यहाँ के प्राचीन नाटक तो केवल धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के उद्देश से रचे, खेले और देखे जाते थे। इसलिये हमारे यहाँ कथावस्तु के विभाग भी कुछ और ही ढंग से किए गए हैं। हमारे यहाँ भी कथावस्तु या रूपक के आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ये पाँच ही विभाग किए गए हैं। इन पाँचों विभागों की, ऊपर बतलाए हुए पाँचों विभागों के साथ, तुलना की जा सकती है और दोनों में कुछ सामंजस्य भी स्थापित किया जा सकता है। हमारे यहाँ के आचार्यों के अनुसार किसी प्रकार का फल प्राप्त करने की उत्कंठा होती है और उसी उत्कंठा से नाटक का आरंभ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिये जो व्यापार होता है, वह यत्न कहलाता है। आगे चलकर उस फल की प्राप्ति की आशा होने लगती है जिसे प्राप्त्याशा कहते हैं। इसके उपरांत विघ्नों का नाश हो जाता है और फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, जिसे नियताप्ति कहते हैं, और सब के अन्त में फल प्राप्ति होती है जो फलागम कहलाती है। इससे सिद्ध है कि हमारे यहाँ के नाटकों में विरोध भाव को कभी प्रधानता नहीं दी जाती थी और उनमें केवल उद्योग तथा सफलता का ही महत्व प्रतिपादित होता था। तो भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रकार के विभागों में, इस विरोधवाले तत्त्व को छोड़कर, और कोई विशेष

अन्तर नहीं है। आरभ और अन्त अथवा फलागम के सबध में तो कुछ कहना ही नहीं है। शेष बीच की तीनों अवस्थाओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। एक में झगडे का विकास होता है, दूसरे में फल-सिद्धि के लिये यत्न होता है, एक म विजय का निश्चय आरभ होने लगता है और दूसरे मे फल-प्राप्ति का, एक में विजय निश्चित होती है और दूसरे में फल प्राप्ति। यदि दोनों में कोई मुख्य अन्तर है तो वह यह कि पाश्चात्य विद्वानों ने विरोध या सघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय की सीमा बहुत सकुचित कर दी है, और हमारे यहाँ के आचार्यों ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है। हमारे विभाग और विवेचन के अन्तर्गत उनके विभाग और उनका विवेचन सहज में आ सकता है, पर उनके सकुचित विवेचन मे हमारे विस्तृत विवेचन के लिये स्थान नहीं है।

कथावस्तु का निवाह

अस्तु, अब हमे इन दोनो प्रकार के विभागो आदि का ध्यान रखते हुए यह बतलाना है कि नाटक का आरभ, बीच की तीनों अवस्थाओं से उसका निर्वाह और फिर उसका अन्त किस प्रकार करना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने अपने इन्हीं पाँचो विभागों के कारण यह नियम रखा है कि नाटक मे पाँच अक हों, और एक एक अक में क्रम मे इन पाँचो में की एक एक बात आती चले। इसका तात्पर्य यह है कि जो इन पाँचों विभागो से परिचित हो, वह सहज मे नाटक की सब बाते समझता चले। हमारे यहाँ भी साधारणत नाटक के पाँच ही अक रखे गए हैं। हमारे यहाँ दस दस अको के भी नाटक हैं, जैसे राजशेखरकृत बाल रामा[यण], पर ये महानाटक कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ

नाटिका, भाण, प्रहसन, व्यायोग आदि जो अनेक भेद हैं, उनमें इससे कम या ज्यादा अङ्क भी होते हैं। प्राय बँगला नाटक भी पाँच ही अङ्कों के होते हैं और गुजराती तथा मराठी नाटक तीन से पाँच अकों तक के होते हैं। उर्दू नाटकों में केवल तीन ही अङ्क होते हैं और हिंदीवाले भी प्राय तीन ही अङ्कों का नाटक पसन्द करते हैं। यदि नाटक रचना के सिद्धांतों और इन पाँचों विभागों का ध्यान रखा जाय, तो नाटकों में पाँच अङ्क रखना ही समीचीन जान पड़ेगा। पर कठिनता यह है कि जिन नाटकों में पाँच अङ्क होते हैं, उनमें भी अङ्कों के अनुसार इन पाँचों तत्त्वों या विभागों का स्थापन नहीं होता। किसी में तीसरे अङ्क तक झगड़े का विकास ही होता रहता है और किसी में चौथे अङ्क तक भी प्राप्त्याशा के लक्षण नहीं दिखाई देते। इसका कारण यही है कि प्राय नाटक लिखनेवाले नाटक रचना के इन सिद्धांतों और तत्त्वों से या तो अपरिचित होते हैं और या जान-बूझकर इनकी उपेक्षा करते हैं। इस अनभिज्ञता या उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि कथावस्तु का जैसा चाहिए, वैसा निर्वाह नहीं होता। उसका कोई अङ्क बहुत फूला हुआ और कोई बिलकुल सूखा हुआ जान पड़ता है। यदि, ऊपर के विभागों के अनुसार, दूसरे ही अङ्क में यत्न की समाप्ति न हो जाय और बराबर चौथे अङ्क तक यत्न ही यत्न होता रहे, तो यह स्पष्ट है कि प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम सब अंतिम और पाँचवें अङ्क में ही ठूसे जायँगे, और दर्शकों को यह कहने का अवसर मिलेगा कि बीच में तो नाटककार ने बहुत सी बातों का अनावश्यक रूप से विस्तार किया और अंत में बहुत शीघ्रतापूर्वक उसकी समाप्ति कर दी। हम

अन्तर नहीं है। आरंभ और अन्त अथवा फलागम के सबध तो कुछ कहना ही नहीं है। शेष बीच की तीनों अवस्थाओं भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। एक मे झगडे का विकास होत है, दूसरे मे फल-सिद्धि के लिये यत्न होता है, एक में विजय व निश्चय आरभ होने लगता है और दूसरे मे फल-प्राप्ति का, ए में विजय निश्चित होती है और दूसरे में फल प्राप्ति। यदि दोन में कोई मुख्य अन्तर है तो वह यह कि पाश्चात्य विद्वानों ने विरो या सघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय की सीमा बहुत सकुचि कर दी है, और हमारे यहाँ के आचार्यों ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है। हमारे विभाग और विवेचन के अन्तर्गत उनक विभाग और उनका विवेचन सहज मे आ सकता है, पर उनके सकुचित विवेचन मे हमारे विस्तृत विवेचन के लिये स्थान नहीं है।

अस्तु, अब हमें इन दोनों प्रकार के विभागो आदि को ध्यान रखते हुए यह बतलाना है कि नाटक का आरभ, बीच की तीनों अवस्थाओं से उसका निर्वाह और फिर उसका अन्त किस प्रकार करना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने अपने इन्हीं पाँचों विभागों के कारण यह नियम रखा है कि नाटक मे पाँच अक हों, और एक एक अक में क्रम से इन पाँचों में की एक एक बात आती चले। इसका तात्पर्य यह है कि जो इन पाँचो विभागों से परिचित हो, वह सहज मे नाटक की सब बातें समझता चले। हमारे यहाँ भी साधारणत नाटक के पाँच ही अक रखे गए हैं। हमारे यहाँ दस दस अकों के भी नाटक हैं, जैसे राजशेखरकृत बाल रामायण, पर ये महानाटक कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ

कथावस्तु का निर्वाह

रूपो में हो सकता है। नाटको में सदा सद् और असद् ही का विरोध दिखलाया जाता है, जिसके कारण असद् के प्रति दर्शकों में अरुचि और सद् के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है, और इसी के द्वारा दर्शकों को अनेक प्रकार की नैतिक शिक्षाएँ मिलते हैं। अत यह विरोध ऐसे ढग से दिखलाना चाहिए जिसमें सद् के प्रति दर्शको की श्रद्धा बढे और उनके मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पडे, क्योंकि इसी से नाटक का नैतिक महत्व सिद्ध होता है

दर्शकों की उत्सुकता बढाने और अन्त में उनको चकित करने के लिये नाटककार कभी कभी अपने नाटकों में किसी गुप्त भेद या रहस्य को भी स्थान देते हैं। वे पात्रों, घटनाओं और उद्देशो आदि के सबध में पहले तो कुछ बातें छिपा रखते हैं और तब किसी उपयुक्त अवसर पर उन बातों को प्रकट करके दर्शकों को चकित कर देते हैं। इससे यह लाभ होता है कि आदि से अत तक दर्शकों की उत्सुकता बनी रहती है और वे बडे ध्यान से सब बातें समझने का उद्योग करते हैं। पर नाटक में इस प्रकार कोई गुप्त भेद या रहस्य छिपा रखने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं दर्शकों को धोखा न हो जाय और वे भटककर कथावस्तु से दूर न जा पडें।

अब हम सक्षेप में रूपकों आदि के भेद बतलाकर यह अध्याय समाप्त करते हैं। हमारे यहाँ नाट्य के दो भेद किए गए हैं—एक रूपक और दूसरा उपरूपक। फिर रूपक के दस और उप रूपक के अठारह अवतर भेद रखे गए हैं। रूपक के दस भेद और उनके सबध की कुछ बातें इस प्रकार हैं—

रूपक के भेद

(१) नाटक—यह रूपक के सब भेदों में से मुख्य है। आचार्यों के मत से इसमें पाँच संधियाँ, चार वृत्तियाँ, चौंसठ संध्यंग, छत्तीस लक्षण और तेंतीस अलंकार होने चाहिएँ। पाँच से दस तक अंक होने चाहिएँ। इसका नायक धीरोदात्त, कुलीन, प्रतापी और दिव्य अथवा अदिव्य हो। शृंगार, वीर अथवा करुण रस की इसमें प्रधानता हो, और संधि में अद्‌भुत रस आना चाहिए। (२) प्रकरण—इसमें सब बातें प्रायः नाटक की सी ही होती हैं, अन्तर केवल यही है कि इसकी कथा बहुत उन्नत नहीं होती और इसका विषय कल्पित होता है, किसी पुराण आदि से नहीं लिया जाता। इसमें शृंगार रस प्रधान रहता है। (३) भाण—इसमें धूर्तों और दुष्टों का चरित्र रहता है और इससे दर्शकों को खूब हँसाया जाता है। इसमें कोई व्यक्ति अपने अथवा दूसरों के अनुभव की बातें आकाश की ओर मुँह उठाकर कहता और आप ही उन बातों का उत्तर भी देता चलता है। (४) व्यायोग—यह वीर रस-प्रधान होता है और इसमें स्त्रियाँ बिलकुल नहीं अथवा बहुत कम होती हैं। इसमें एक ही अंक होता है और आदि से अंत तक एक ही कार्य्य या उद्देश से सब क्रियाएँ होती हैं, और एक ही दिन की कथा का वर्णन होता है। (५) समवकार—इसमें तीन अंक और १२ तक नायक होते हैं और सब नायकों की क्रियाओं का फल पृथक् पृथक् होता है। इसमें वीर रस प्रधान होता है। (६) डिम—यह समवकार की अपेक्षा अधिक भयानक होता है। इसमें चार अंक और १६ तक नायक होते हैं जो प्रायः दैत्य, राक्षस, गंधर्व, भूत, प्रेत आदि होते हैं। इसमें अद्‌भुत और रौद्र रस प्रधान

होते हैं। (७) ईहामृग—इसमें एक धीरोदात्त नायक और उसका प्रतिपक्षी एक प्रतिनायक होता है। दोनो एक दूसरे का अपकार करने का यत्न करते हैं। नायिका के लिये उनमें परस्पर युद्ध भी होता है। नायक को नायिका तो नहीं मिलती, पर वह मरने से बच जाता है। (८) अंक—यह करुण रस-प्रधान होता है और इसमें स्त्रियों के शोक का विशेष वर्णन रहता है। इसमें एक ही अंक होता है। (९) वीथी—यह भाण से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है और इसमे एक ही अंक तथा एक ही नायक होता है। इसमें शृंगार रस तथा विनोद और आश्चर्यजनक बातों की प्रधानता रहती है। (१०) प्रहसन—यह भी प्राय भाण से मिलता जुलता होता है और इसमे कल्पित निंद्य लोगों का चरित्र दिखलाया जाता है। यह हास्य रस-प्रधान होता है, पर इससे लोगों को उपदेश भी मिलता है।

उपरूपक के हमारे यहाँ १८ भेद माने गए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। हमारे यहाँ के आचार्यों ने केवल नाटक के काम के लिये नायकों और नायिकाओं के अनेक भेद किए हैं और वृत्तियाँ, अलंकार तथा लक्षण आदि भी अलग नियत किए हैं। उन्होंने यह भी बतलाया है कि किन पात्रों को किन भाषाओं का प्रयोग करना चाहिए और किसे किस प्रकार संबोधन करना चाहिए। हमारे यहाँ यह भी निर्णय किया गया है कि कौन कौन से दृश्य रंगशाला में नहीं दिखलाने चाहिएँ। जैसे-

उपरूपक

:बी यात्रा, हत्या, युद्ध, राज्यक्रान्ति, किलों आदि का घेरा, ोजन, स्नान, सभोग, नायक या नायिका आदि की मृत्यु इत्यादि। न सब का पूरा पूरा विवरण जानने के लिये लक्षण-ग्रन्थों का हारा लेना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की बातें बताना हमारे द्देश के बाहर है। अन्त में हम इतना ही कहना यथेष्ट समझते ैं कि नाटक लिखना सहज नहीं है और इसके लिये बहुत कुछ वेद्या बुद्धि, ज्ञान तथा रचना कौशल की आवश्यकता होती है।

आठवाँ अध्याय

रसों का विवेचन

हम पिछले अध्यायों में यह बात अनेक बार कई स्थानों पर लिख चुके हैं कि सब प्रकार के काव्यों में जीवन व्यापार के निरीक्षण द्वारा जिस सचित सामग्री को कवि अपने कौशल की सहायता से काव्य-कला का रूप देता है, वह बुद्धि-तत्व, कल्पना तत्व और रागात्मक तत्व की आश्रित रहती है। हम यह भी बतला चुके हैं कि बुद्धि-तत्व से हमारा अभिप्राय उन विचारों से है जिन्हें कोई लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में प्रयुक्त करता और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। कल्पना तत्व से हमारा अभिप्राय मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति से है, जिसे कवि या लेखक अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय चक्षु के सम्मुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। रागात्मक तत्व से हमारा अभिप्राय उन भावों से है जिनको कवि या लेखक का काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता और जिनका वह अपनी कृति द्वारा अपने पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है। ये तीनों तत्व सब प्रकार के काव्य के, चाहे वह कविता हो, चाहे गद्यकाव्य हो, आधार, प्राण या अन्तरात्मा हैं। इनके बिना काव्य अपना सहज, सुचारु और मनोमुग्धकारी रूप धारण नहीं कर सकता, चाहे उसमें

काव्य के तत्व

बाहरी सजधज या बनावट सजावट कितनी ही अधिक और कितनी ही अच्छी क्यों न हो। इस अध्याय मे हम काव्य के आधारों के विषय में विवेचन करेंगे और अगले अध्याय में उसकी बाहरी सजधज के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करेंगे।

इन तीनों तत्वो का परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, और काव्य मे तो इनका ऐसा समिश्रण हो जाता है कि इनका विश्लेषण करके इन्हें अलग अलग करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असभव भी है। प्राय देखने मे आता है कि एक ही पदार्थ के देखने पर हमारे मन मे विचार, कल्पना तथा मनोवेगों की एक साथ उत्पत्ति होती है। यद्यपि ये तीनो बातें भिन्न भिन्न मानसिक क्रियाओं या व्यापारों के भिन्न भिन्न रूप हैं, पर कहाँ एक की समाप्ति होकर दूसरे का आरभ होता है अथवा उनकी उत्पत्ति का क्रम किस प्रकार है, इसका निर्णय करना और एक विभाजक रेखा खींचकर उनकी सीमाएँ निर्धारित करना असभव है। इस कठिनाई के रहते हुए भी हम तीनों तत्वों का कुछ विवरण दे देना आवश्यक समझते हैं।

ज्ञान-काव्य की वृत्तियाँ

मनुष्य का निर्माण इतना जटिल है कि अभी तक इस निर्माण के तत्वों को पूरा पूरा समझने और समझाने मे वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों विफल रहे हैं। साधारणत वैज्ञानिकों के मत से मनुष्य शरीर और मन का सयोग है। शरीर का निर्माण जड पदार्थों से हुआ है, अतएव उसके विषय में पदार्थ विज्ञान के विद्वानों ने बहुत कुछ सूक्ष्म विवेचना की है। शरीर के व्यापार, क्रियाएँ, गुण और कार्य पदार्थ विज्ञान के सिद्धातों और नियमों

के अनुसार होते हैं, इसलिये शरीर-शास्त्र का विवेचन तो सहज है, परन्तु मन का विवेचन उतना सहज नहीं है।

अत करण से हमारा तात्पर्य उसी भीतरी इंद्रिय से है जो सकल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण तथा सुख, दुख आदि का अनुभव करती है। कार्य-भेद से अत करण की चार वृत्तियाँ मानी गई हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन की वृत्ति से सकल्प विकल्प होता है, बुद्धि का कार्य विवेक या निश्चय करना है, चित्त का कार्य बातों का अनुसधान करना है, और अहकार वृत्ति से ससार के अन्य पदार्थों के साथ हमारा सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। वेदातसार के अनुसार मन और बुद्धि के अन्तर्गत अनुसधानात्मक वृत्ति को चित्त कहा है। पचदशी में इन्द्रियों का नियन्ता मन माना गया है, जो आतरिक व्यापार में स्वतन्त्र है, पर बाह्य व्यापार में इन्द्रियाँ परतन्त्र हैं। उस ग्रन्थ में अन्त करण की उत्पत्ति पचभूतों की गुणसमष्टि से मानी गई है और मन तथा बुद्धि ये दो उसकी वृत्तियाँ बताई गई हैं। इनमें से मन को सशयात्मक और बुद्धि को निश्चयात्मक कहा है। वेदात में प्राण को मन का कारण कहा है और मृत्यु होने पर उसका प्राण मे लय हो जाना माना है। कई दार्शनिक ग्रन्थों में मन या चित्त का स्थान हृदय माना है।

पाश्चात्य विद्वान् अन्त करण के सब व्यापारों का स्थान मस्तिष्क में मानते हैं जो समस्त ज्ञान तन्तुओं का केंद्र-स्थान है। खोपडी के भीतर जो टेढी मेढी गुरियों की सी बनावट होती है, वही मस्तिष्क है। उसी के सूक्ष्म मज्जा-तन्तु जाल और कोशों की

 के द्वारा सारे मानसिक व्यापार होते हैं। भूतवादी वैज्ञा-

-नेकों के मत से चित्त, मन वा आत्मा कोई पृथक् वस्तु नहीं है, केवल व्यापार विशेष का नाम है, जो छोटे जीवों मे बहुत ही अल्प परिमाण में होता है और बड़े जीवों में क्रमश बढ़ता जाता है। इस व्यापार का प्राण रस के कुछ विकारो के साथ नित्य सम्बन्ध है। प्राण-रस के ये विकार अत्यन्त निम्न श्रेणी के जीवों में प्राय शरीर भर मे होते हैं, पर उच्च प्राणियों में क्रमश इन विकारो के लिये विशेष स्थान नियत होते जाते हैं और उनमे इन्द्रियो तथा मस्तिष्क की सृष्टि होती है।

पाश्चात्य विद्वान् मन के विषय मे अभी तक अपने सिद्धात स्थिर नहीं कर सके हैं और न उसकी कोई ठीक परिभाषा ही बता सके हैं। कोई कहता है कि मन वह है जो विचार करता, स्मरण करता, तर्क करता और आकाक्षा करता है। दूसरा कहता है कि जिसे हम मन कहते हैं, वह केवल भिन्न भिन्न विषयों के इन्द्रिय ज्ञान की राशि या ढेर है, जो किसी अज्ञात सम्बन्ध से इकट्ठा हो जाता है। तीसरा कहता है कि इन विषयक कल्पनाओं के परे मन कोई ऐसी वस्तु है जो इन कल्पनाओ को देखती, समझती और इनके विषय मे कई क्रियाएँ करती है, जैसे आकाक्षा, तर्क, स्मरण आदि। चौथे महाशय मन को मनोविकारों की शृखला या माला मानते हैं। पाँचवें महाशय कहते है कि मन का यथार्थ ज्ञान उसके मनोराग, सकल्प और बुद्धि-विषयक तीन विशिष्ट गुणों पर विचार करने से हो सकता है।

इन सब बातों के कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अभी तक विद्वानो ने इस सबन्ध में कोई ऐसा सिद्धात नहीं स्थिर

किया है जो सब को मान्य हो। हमारे यहाँ अंतःकरण से प्रारंभ करके उसकी चार वृत्तियों में मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार को गिना दिया है। इसमें भी चित्त को मन और बुद्धि के अन्तर्गत माना है। पाश्चात्य विद्वान् मन के द्वारा अन्तर्बोध का होना मानते हैं और उसके गुण मनोराग, संकल्प और बुद्धि बतलाते हैं।

हमारा उद्देश मनोविज्ञान शास्त्र का विवेचन करना नहीं है। हमारे काम के लिये तो इतना ही जान लेना यथेष्ट होगा कि मनोराग और बुद्धि ऐसी मानसिक वृत्तियाँ है जिनका काव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचार और कल्पना भी बुद्धि के ही अन्तर्गत आती है।

मनोविज्ञान में बुद्धि को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। मानसिक कार्यों में इसकी प्रधानता रहती है। हमारे यहाँ इसे अंतःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति माना है। इसे हम मन की चेतन शक्ति भी कह सकते हैं। इसी की सहायता से सब प्रकार के इंद्रिय ज्ञान या मनोवेगादि का बोध होता है। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तब बुद्धि के ही द्वारा उसके सम्बन्ध के विचारों की उत्पत्ति होती है। दार्शनिकों ने विचार के दो अर्थ लिए हैं। पहला अर्थ तो उन सब मानसिक स्थितियों का है जिनका बुद्धि द्वारा अन्तर्बोध या ज्ञान होता है। इस अर्थ के अनुसार विचार में मनोराग, संकल्प, इच्छा आदि सब का समावेश हो जाता है। दूसरा अर्थ शब्द का वह रूप है जो वाणी द्वारा प्रकाशित किया जाता है। कुछ लोग विचार से बुद्धि के उस कार्य का अर्थ लेते हैं जो कल्पना द्वारा होता है।

बुद्धि

[सा]हित्य-शास्त्र के लिये इन सूक्ष्म विचारों की आवश्यकता नहीं

...। हमारे लिये इतना ही जान लेना बहुत है कि जब हमारा ...न बुद्धि द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसके सम्बन्ध ... हमारे मन में अनेक प्रकार के भाव अभिव्यक्त होते हैं। ...ब हम किसी नदी-तालाब, पेड़-फूल, घर दूकान, स्त्री पुरुष ...आदि को देखते हैं, तब भिन्न भिन्न मानसिक क्रियाओं के ...कारण हमारे मन में कुछ भाव अभिव्यक्त होते हैं। इन्हीं मान-...सिक भावों का नाम विचार है। जैसा कि हम पहले लिख चुके ..., प्रत्येक लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में कुछ ...विचारों का प्रयोग करता है और उन्हें अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। विचारों की उत्तमता के विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि यह गुण किसी काव्य में न हो तो वह निकृष्ट, निरुपयोगी और हानिकारक हो जाता ...है। अतएव विचारों की श्रेष्ठता ध्यान देने योग्य है। कवि या ...लेखक को इनके द्वारा समाज का हित करने की ओर सदा ...दत्तचित्त रहना चाहिए। पर यह तभी सम्भव है जब वह स्वयं ...परिमार्जित, संस्कृत और उच्च विचारों का केंद्र हो और अपने ...पाठकों के मन में उन विचारों का संचार करके उन्हें उच्च भावों ...से परिपूर्ण तथा उसके कारण आनन्दित कर सके। काव्य में ...बुद्धि-तत्व का यही उद्देश है, और इसी को काव्य में सुचारु रूप ...से सुव्यवस्थित करने में कवि या लेखक का कौशल तथा उसकी ...महत्ता अभिव्यक्त होती है।

काव्य का दूसरा तत्व कल्पना है। दार्शनिकों ने सब प्रकार ...के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, ...विचार और सहज ज्ञान। सब से पहले हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान

अपनी ज्ञानेंद्रियों अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा से होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं, तब हमारे नेत्रों के द्वारा उस मनुष्य का प्रतिबिंब हमारे मन पर पडता है। जब तक हम उस मनुष्य को देखते हैं, तब तक वह प्रतिबिंब स्पष्ट रहता है, परन्तु जब हम नेत्र बन्द कर लेते हैं, तब वह प्रतिबिंब विलीन हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को "परिज्ञान" कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है, तो पीछे से आवश्यकता पडने पर "स्मरण" शक्ति की सहायता से हम उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं, परन्तु फिर भी पहले की भाँति स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं आ सकता। यदि हम उसी मनुष्य को बार बार देखें और ध्यान से उसके प्रत्येक अंग की बनावट तथा उसके रूपादि को अपने मन में बैठा लें, तो फिर हमारी स्मरण-शक्ति कुछ अधिक सहायता कर सकती है और हमारे मन में उस व्यक्ति का एक स्पष्ट चित्र सा बन जाता है। यह कार्य मन की स्मरण शक्ति के द्वारा संपन्न होता है।

कल्पना तत्व

मान लीजिए कि उक्त मनुष्य, जिसका हमें पहले पहल आँखों द्वारा परिज्ञान हुआ और जिसका चित्र हम अपने मन पर स्मरण शक्ति द्वारा संचित कर सके हैं, एक अँगरेज है। हमने एक सन्यासी को भी देखा है और हमें उस सन्यासी के रूप, आकार तथा वस्त्रों के रंग का स्मरण है। अब यदि हम चाहें तो अपने मन में उस अँगरेज का सूट, बूट छीनकर उसे सन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं, और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अँगरेज सन्यासी का चित्र उपस्थित

जाता है। हमने बाह्य जगत् में केवल एक साधारण अँगरेज था एक सन्यासी को देखा, हमारी ज्ञानेंद्रियों ने हमें उनका रूप बोध कराया, और स्मरण शक्ति ने उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को मन में अंकित कर लिया। इसके अनन्तर मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उनके पृथक् पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली, जिसका अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं है, परन्तु जिसका बाह्य जगत् से स्वतंत्र चित्र हमारे मन में रहता है। मन की इस क्रिया को "कल्पना" कहते हैं। जो उदाहरण हमने दिया है, वह साधारण कल्पना का है। उसके आगे उस कल्पना का प्रादुर्भाव होता है जिसे 'मन की तरंग' कहते हैं। मनोरागों का अस्तित्व भी इसका प्रधान लक्षण है। इन्हीं रागों के द्वारा यह कल्पना उत्तेजित होती है और काव्यों द्वारा आनंद का उद्रेक करने में सहायक बनती है। जब वह कल्पना और उत्तेजित हो जाती है, तब अपनी बिलकुल नई सृष्टि खड़ी करने में भी समर्थ होती है। यह कल्पना शक्ति की पराकाष्ठा है। इसी की सहायता से प्रतिभावान् लेखक और बड़े बड़े कवि काव्य रचने में समर्थ होते हैं। विधायक कल्पना ही संसार में नए नए वैज्ञानिक आविष्कारों को संभव कर दिखाती है और संसार का ज्ञान बढ़ाती है।

कल्पना का आनंद दो प्रकार होता है। एक तो वह आनंद है जो पदार्थों के वास्तविक अवलोकन तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त होता है। जब हम किसी खुले हुए समतल मैदान, विस्तृत रेगिस्तान, आकाशचुंबित पर्वतमाला, ऊँची चट्टानों, विपुल जलराशि

आदि को देखते हैं, तब हमारे मन में एक विशेष प्रकार आनद उत्पन्न होता है। यदि इन पदार्थों में नवीनता, रम्यता या सुंदरता भी वर्तमान हो, तो हमारे आनद की और बढ जाती है। दूसरा आनद वह है जो ऐसे पदार्थों उद्भूत होता है जिनको हमारी आँखो ने एक बार देखा है जो हमारे मन मे फिर से स्मरण शक्ति की सहायता से होते हैं। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे ठीक वही पदार्थ हों जो हमें पहले आनद देनेवाले हो चुके हैं। हमारी कल्पना मे यह शक्ति है कि जिन पदार्थों को हम एक बार देख कर आकृष्ट हो चुके हैं, उन्हें हमारी कल्पना अपनी रुचि के अनुसार घटा बढाकर या परिवर्तित करके हमारी मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित करे और इस प्रकार हमें अपनी स्वतंत्र सृष्टि का अनुभव करावे।

इस प्रकार हमारी कल्पना-शक्ति हमारे पूर्वसचित अनुभवों के समिश्रण से हमारे सम्मुख एक मनोहर चित्र उपस्थित करती है और कवि या लेखक अपनी शाब्दिक शक्ति से उस चित्र का ऐसा सुन्दर वर्णन करता है जो हमारे मन को मुग्ध कर लेता है और हम पर ऐसा प्रभाव डालता है कि हम उसे काल्पनिक न समझकर वास्तविक समझने और मानने लगते हैं। अतएव कवि या लेखक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने काल्पनिक वर्णन मे अस्वाभाविकता न आने दे। हम यह बात पहले लिख चुके हैं कि जब कल्पना अत्यन्त उत्तेजित होकर नई सृष्टि के निर्माण में लग जाती है और कवि या लेखक अपनी मनोहर भाषा में उस सृष्टि का वर्णन करता है, तब वह काव्य कला की

[illegible]हायक होकर उसे उत्कृष्ट बनाने में समर्थ होती है। अतएव [illegible]ले साधारण कल्पना उद्भूत होती है, फिर वह मन की तरग [illegible] रूप धारण करती है, और अंत में विधायकता से संपन्न [illegible]वि-कल्पना का रूप धारण करती है। काव्यों मे मन की इन्हीं [illegible] रंगों और विधायक कल्पना का विशेष रूप से प्रयोग होता है। [illegible]न की तरगों के उदाहरण तो उत्कृष्ट काव्य मे पद पद पर [illegible]मलते हैं, पर विधायक कल्पना में विशेष कौशल की आवश्यकता [illegible]ोती है। इसके उदाहरण संस्कृत में मेघदूत काव्य तथा हिंदी [illegible]ें कवि मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावती' हैं।

काव्य का तीसरा तत्व मनोवेग हैं जिन्हें साधारणत भाव कहते हैं। भाव मन मे उत्पन्न होनेवाले ऐसे विशेष प्रकार के विकार नहीं हैं, जो कभी उत्पन्न हों और कभी न हों। वे मानसिक जीवन के अंग स्वरूप होकर उसमे सदा व्याप्त रहते है। मन मे उठी हुई कोई ऐसी तरग ही नहीं है जिसमें भावों का लेश न हो, अथवा हम यों कह सकते हैं कि वास्तव में कोई ऐसा ज्ञान ही नहीं है जो भाव-रहित हो। इस ससार मे जो कुछ हम प्राप्त करते हैं, वह भावों ही के द्वारा होता है। हमारा यह विचार कि "यह विद्या हमारी है" एक भाव है। इसी भाव के कारण "हम" और "तुम" का विभेद माना जाता है। भावों में एक बडी विशेषता यह होती है कि मनुष्य स्वय तो भावों का अनुभव करता है, परंतु यदि कोई दूसरा व्यक्ति उन्हीं भावों के कुछ अंशों का अनुभव करना चाहे तो यह सर्वथा असम्भव है। भाव प्रत्येक व्यक्ति की अंत-रात्मा का एक विशेष धर्म है। अतएव शब्दों की सहायता से

मनोवेग या भाव

इस बात का वर्णन करना असम्भव है कि वास्तव में भाव क्या हैं। मनुष्य उनका केवल अनुभव कर सकता है, परन्तु उनके वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता।

भाव कितने प्रकार के हैं अथवा किस प्रकार वे अभिव्यक्त होते हैं, इन बातों का निश्चय करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि मन क्या वस्तु है, क्योंकि भावों का सम्बन्ध वास्तव में मन से ही है। मन अन्तरात्मा की एक कार्यकारिणी शक्ति है। अतएव भाव इसी कार्यकारिणी का एक विकार मात्र हैं। इस शक्ति का परिचालन दो ओर होता है—एक सुख की ओर और दूसरा दुःख की ओर। इन दोनों के बीच में सम भावों का भी परिचालन होता है। सुख के भाव मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं और दुःख के भाव, इसके विपरीत, कार्य की गति को रोकने का प्रयत्न करते हैं।

भावों के प्रकार

मन मे अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं इच्छाओं से प्रेरित होकर मनुष्य अनेक लक्ष्यों को अपने सामने रखकर तथा उन लक्ष्यों तक पहुँचकर संतुष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य की जितनी इच्छाएँ होती हैं, उतने ही प्रकार के भाव भी होते हैं, पर इच्छाओं की गिनती असख्य होने के कारण भावों की गिनती का भी ठिकाना नहीं है। फिर भी मनुष्यों के विशिष्ट विशिष्ट लक्ष्यों को लेकर हम यह जानने का प्रयत्न कर सकते है कि वास्तव मे भाव कितने प्रकार के होते हैं।

विचार करने पर हम भावों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। सब से पहले हमें स्थूल शरीर की ओर ध्यान

ा चाहिए। मन की रचना ऐसी अद्भुत है कि शरीर के किसी ा में किसी प्रकार का विकार होते ही आत्मा की भावुकता के रण चट उसका सवाद मन तक पहुँच जाता है। स्वय मानव ीर मे जब किसी बात की आवश्यकता होती है, तब उसका ा सवाद मन तक पहुँच जाता है और मन उस आवश्यकता ो पूरा करने के प्रयत्न में अपनी शक्ति लगाने लग जाता है। न आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने पर आनद होता है और र्ण न होने की अवस्था मे दु ख का प्रादुर्भाव होता है। इस कार स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले भावों को हम प्रथम ेणी में स्थान देते हैं। मनोविज्ञानवेत्ता इस प्रकार के भावों को द्रिय-जनित भाव कहते हैं।

मन की दूसरी शक्ति वह है जिसके द्वारा वह ससार के ब अनुभवों को एकत्र करके उनसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है। इस ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले जितने भाव हैं, उन्हें हम दूसरी श्रेणी मे रखते हैं। ऐसे भावों की सज्ञा ज्ञानात्मक भाव है।

मन अपनी तीसरी शक्ति के द्वारा मनुष्य के विचारों को एकत्र करके किसी विशेष लक्ष्य का स्वरूप खडा करने अथवा उस लक्ष्य को पूर्ण या प्राप्त करने में यत्नशील होता है। मन की इस शक्ति से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें हम तीसरी श्रेणी में स्थान देते हैं और उन्हें गुणात्मक भाव कहते हैं। अब हम इन तीनों प्रकार के भावों पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

सब से पहले हम अपने स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले प्रथम श्रेणी के इंद्रिय-जनित भावों के विषय में तत्वज्ञों के मत

का सारांश देते हैं। सब से पहला तथा सब से सरल माध्यम जिसके द्वारा अन्तरात्मा अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, हमा

इंद्रिय-जनित भाव

यह स्थूल शरीर ही है। इस शरीर को अवयवों का एक संघटित समूह कह सकते हैं ये अवयव एक दूसरे से भिन्न होने पर भी आपस में ऐसे मिले हुए हैं कि उनकी समस्त शक्ति का उपयोग उनके पारस्परिक सम्बन्ध ही पर निर्भर रहता है। इन अवयवों के द्वारा हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह इन सब की विभिन्नता को दूर कर देता है। यदि आँखें कुछ देखती है तो यह पूरा शरीर उसका अनुभव करता है। यदि शरीर के किसी अंग मे चोट लग जाती है तो यह समस्त शरीर उसका अनुभव करता है। इसका कारण यह है कि शरीर के ये सब अंग या अवयव एक ही अन्तरात्मा से सम्बन्ध रखते हैं और इनके द्वारा अन्तरात्मा को जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसी से भावों की अभिव्यक्ति होती है। सब वस्तुओं की कोई न कोई निर्धारित सीमा होती है। इसी प्रकार इंद्रिय ज्ञान की भी सीमा समझनी चाहिए। अपने वेग के सीमा से अधिक या कम हो जाने के कारण वे दुःखदायी प्रतीत होने लगते हैं। जब वे अपनी सीमा में रहते हैं, तभी उनका अनुभव सुखकर होता है। सूर्य का अधिक प्रकाश नेत्रों को दुःखदायी होता है। इसी प्रकार बहुत ही सूक्ष्म प्रकाश भी दुःखदायी होता है। परन्तु बीच का या सम प्रकाश मन को सुख देनेवाला होता है। बड़े जोर की चिल्लाहट अथवा बहुत धीमी बड़बड़ाहट कानों को कष्टकर होती है। परन्तु साधरण स्वर से उच्चरित वाणी प्यारी लगती है। इसका कारण यही है कि या तो स्वर अथवा प्रकाश के अधिक

,ीन होने के कारण इन्द्रियों को उसे ग्रहण करने में विशेष कष्ट
,ाता है, अथवा अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण उनको ग्रहण करने
। सामर्थ्य से अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। इन दोनों के बीच
की अवस्था अथवा सम भाव होने से इन्द्रियाँ उसे सहज में ही
ग्रहण कर लेती हैं। यही कारण है कि कर्णेन्द्रिय के द्वारा मन
को ताल तथा लय-युक्त गान से विशेष आनन्द प्राप्त होता है।
उसके साथ ही किसी भाव का अधिक समय तक मन में स्थिर
रहना अथवा बहुत शीघ्रता से निकल जाना भी दुःखदायी होता
है। जब तक मन किसी भाव में तल्लीन रहता है, तभी तक वह
सुखदायी रहता है। इसका कारण यह है कि किसी भाव के
बहुत थोड़ी देर तक मन में रहने से उसमें परिपक्वता नहीं आती
और बहुत देर तक रहने से उससे जी ऊब जाता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञान से भावों की उत्पत्ति होती है।
परन्तु ये भाव, जिनका हम वर्णन कर रहे हैं और जिन्हें हमने
प्रथम श्रेणी में गिना है, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होते
। इसी लिये इन्हें इन्द्रिय-जनित भाव कहते हैं। जीभ द्वारा
किसी स्वादिष्ट भोजन के आस्वादन से हमें आनंद होता है और
किसी बुरे स्वादवाले भोजन के चखने से दुःख होता है। शरीर
: किसी अंग में कष्ट पहुँचने से आलस्य होता है, उसमें व्याधि
होने से चिंता होती है। इसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा केवल हर्ष,
विषाद, आलस्य, चिंता इत्यादि ही नहीं बल्कि शोक, भय आदि
भाव भी अभिव्यक्त होते है।

दूसरे प्रकार के भाव वे हैं जो मन की ज्ञान तथा अनुभव
प्राप्त करनेवाली शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। इन्द्रिय जनित भावों

और इन भावों में यह अन्तर है कि वे सीधे इंद्रिय ज्ञान से प्राप्त होते हैं और ये भूत, भविष्य और वर्तमान अनुभवों द्वारा इंद्रिय-जनित भावों को विशेष रूप से पुष्ट करते हैं। मान लीजिए कि किसी प्रकार हमारा हाथ कट गया। अब हाथ कटने का कष्ट तो हम अवश्य अनुभव करेंगे, क्योंकि वह इंद्रिय जनित शारीरिक कष्ट है और अवश्यभावी है। पर उस समय इस कष्ट की मात्रा बहुत अधिक बढ जाती है जब हम इस बात का विचार करते हैं कि हाथ के बिना हमारे बहुत से काम रुक जायँगे। यह विचार अनुभव द्वारा प्राप्त होता है; क्योंकि हम जानते हैं कि हाथ से बहुत से काम होते हैं, और उनके न रहने पर हमें अनेक बाधाओं का सामना करना पडेगा। इस प्रकार के भाव हमें इंद्रिय जनित भावों से बहुत आगे ले जाते हैं। इनसे हममें केवल इस बात का ज्ञानोत्पन्न भाव रहता है कि हमें किसी प्रकार का सुख या दुःख है। पर किस पदार्थ से यह भाव अभिव्यक्त हुआ, इससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब हम कोई कार्य करने में अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं और बीच में कोई बाधा उपस्थित होती है, तब विषाद का भाव अभिव्यक्त होता है। ऐसे भाव सचारी भावों का काम करते हैं।

प्रज्ञात्मक भाव

हम पहले यह कह चुके हैं कि इस प्रकार से उत्पन्न भाव भूत, भविष्य और वर्तमान अनुभवों से संस्कृत होते हैं। जिस प्रकार होनेवाले बहुत से कार्यों का हमारा ज्ञान अनुभव द्वारा सस्कृत और परिवर्धित होता है, उसी प्रकार विचारों का भी होते होते मन को एक बान सी पड जाती है। जब हम

पुराने अनुभवों द्वारा नए अनुभवों का संशोधन करते हैं, तब चिंता रूपी भाव की उत्पत्ति होती है। यदि हमसे कोई अपराध बन पड़ा और उसी का हम विचार करने लगे तो विषाद, जड़ता आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है। जब कई कार्यों में से किसी एक कार्य को निश्चित करना होता है, तब तर्क वितर्क आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है। साधारणतः ये सब भाव संचारी या व्यभिचारी भावों के समान होते हैं, पर कभी कभी ये स्थायी भाव का रूप भी धारण कर लेते हैं। यदि हमें कोई अनुभव ऐसा हो रहा हो जिससे हमारे मन में इस बात का विचार उत्पन्न हो कि जो कार्य हमारे सामने है, उसको पूरा करने की शारीरिक शक्ति हममें नहीं है, तो भय रूपी स्थायी भाव की उत्पत्ति हो जाती है। हम कह चुके हैं कि भविष्य से सम्बन्ध रखनेवाले अनुभवों के द्वारा भी भाव अभिव्यक्त होते हैं। भविष्य में क्या होनेवाला है, इस विचार से उत्पन्न भाव औत्सुक्य कहलाता है। साहस एक ऐसा भाव है जिसके द्वारा मनुष्य आनेवाली आपत्तियों का सामना करने में अपने को समर्थ समझ लेता है। इसी प्रकार भविष्य से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों से चिन्ता, निराशा आदि अनेक संचारी भावों की अभिव्यक्ति होती है। सारांश यह है कि दूसरी श्रेणी के भाव, जिन्हें ज्ञानात्मक भाव कहते हैं, ऐसे होते हैं जो मन की ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करनेवाली शक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं और भूत, भविष्य तथा वर्तमान अनुभवों के द्वारा इन्द्रिय-जनित भावों को परिपुष्ट करते हैं। साधारणतः इन्हीं भावों को साहित्य में संचारी भाव कहते हैं। कभी कभी अनुकूल स्थिति पाकर ये स्थायी भाव का रूप धारण

कर लेते हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा की प्रवृत्ति सदा कोई का करने की ओर अग्रसर रहती है। इन कार्यों में कभी त मनुष्य सफल-मनोरथ होता है और कभी विघ्नों के आ जाने कारण विफल मनोरथ होता है। यही हर्ष तथा शोकादि भाव की अभिव्यक्ति का कारण है। अतरात्मा के प्रत्येक कार्य का को न कोई लक्ष्य होता है। उसी लक्ष्य की ओर मन नियमित रू से अपनी विचार शक्ति का प्रयोग किया करता है। इसमें निश्चल ता होने से सुख और विचलता होने से दुःख होता है।

तीसरे प्रकार के भाव वे हैं जिन्हे गुणात्मक भाव कहते हैं यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जो कार्य मन द्वारा सम्पा

गुणात्मक भाव

दित होते हैं, वे किसी स्थूल वस्तु के विषय में होते हैं। इसलिये हमारे सब भाव वस्तु विशेष द्वारा अभिव्यक्त होते और उसी में लीन हो जाते हैं। वह वस्तु, जिससे भाव अभिव्यक्त होते हैं, विभाव कहलाती है। विभाव दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जिनसे मन में किसी का चित्र उपस्थित होता है और जिन्हे आलम्बन विभाव कहते हैं। ये विभाव कल्पना शक्ति की सहायता से उपस्थित होते हैं। दूसरे वे जिनसे भाव उद्दीप्त या जाग्रत होते है और जिन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। वास्तव में भाव और विभाव अलग नहीं किए जा सकते। वे एक ही ज्ञान के दो अग हैं।

भाव वास्तव में दो प्रकार के होते हैं—एक सामान्य और दूसरे परिवर्धित, उद्दीप्त या तीव्र। इन्हीं परिवर्धित, उद्दीप्त या तीव्र भावों को मनोवेग या राग कहते हैं। राग किसी वस्तु या आलम्बन पर ही निर्भर रहता है, परन्तु सामान्य भाव

के लिये किसी आलम्बन की आवश्कता नहीं होती। किसी की आहट से चौंक पड़ना या किसी के दुःख से विषादयुक्त होना सामान्य भाव हैं। पर किसी में प्रीति या घृणा होना व्यक्ति या वस्तु विशेष पर निर्भर रहता है। इसलिये जितने प्रकार के आलम्बन होंगे, उतने ही प्रकार के रागात्मक भाव भी होंगे। एक झाड़ू के सम्बन्ध में हमारा जो भाव होगा, वही भाव गुलाब के एक फूल के संबंध में नहीं होगा। कारागृह के विषय में हमारा जो भाव होगा, वह उद्यान के लिये नहीं होगा। इसका कारण यही है कि अंतरात्मा से प्रत्येक आलम्बन का सम्बन्ध भिन्न भिन्न प्रकार का होगा और इन्हीं आन्तरिक सम्बन्धों के अनुसार हमारे भाव होंगे।

अब हमें इन अनुरागजनित भावों की व्यापकता की ओर ध्यान देना चाहिए। सामान्य भाव तो इंद्रियजनित और अव्यापक होते हैं, पर रागात्मक भाव अधिक तीव्र और व्यापक होते हैं। इन भावों में अंतरात्मा अपनी शक्ति को बाहर आलम्बन की ओर फेंकती है। अंतरात्मा सदा उन्नति की ओर अग्रसर रहती है। इस कार्य में उसे उन बाह्य पदार्थों से सामना करना पड़ता है जिन पर उसे अनुराग होता है। ये आलम्बन दो प्रकार के होते हैं—एक वस्तु विषयक और दूसरे व्यक्ति विषयक। सांसारिक वस्तुएँ उसके अनुभव को अवश्य बढ़ाती हैं, पर वास्तव में उसे पूरा अनुभव मनुष्यों के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि एक अंतरात्मा वास्तव में दूसरी अंतरात्मा में अपनी प्रतिच्छाया देख सकती है और उसी के द्वारा अपने अनुभव को पूर्ण करती है। व्यक्ति विषयक भाव दो प्रकार के होते हैं—एक प्रशंसक और

दूसरे सौंदर्य-विवेकी । मन में सदा नए नए अनुभव करने की इच्छा भरी रहती है । इसको पूरा करनेवाली वृत्ति को प्रज्ञात्मक भाव कहते हैं । मनोमुग्धकारी वस्तु-विषयक अनुभव प्राप्त करने की वृत्ति को, जिसके द्वारा मनुष्य एक आदर्श को अपने सामने रखकर उससे प्राप्त करने अथवा उसके अनुकूल होने की वृत्ति अपने मन में रखता है, सौंदर्य-विवेकी भाव कहते हैं । वस्तुओं में सौंदर्य गुण रहता है । वास्तव में उसी सुंदरता को प्राप्त करने या तज्जनित आनंद का अनुभव करने की इच्छा ही को सौंदर्य-विवेकी भाव कहते हैं ।

प्रत्येक भाव से मनुष्य कुछ न कुछ अनुभव प्राप्त करता रहता है । ज्यों ज्यों भावों का व्यापकत्व बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अनुभवों की भी वृद्धि होती जाती है । इंद्रिय-जनित भावों से मनुष्य केवल शरीर सम्बन्धी सुखों के साधन प्राप्त करने में लगा रहता है, (प्रज्ञात्मक भावों से वह वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में दत्तचित्त होता है, तथा सौंदर्य-विवेकी भावों से वह किसी आदर्श का निर्माण करने अथवा उसे प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है) सामाजिक भाव उसे परस्पर के सम्बन्ध-जनित व्यवहारों में लगाते हैं । इसी प्रकार जब उसमें धर्म-जनित भाव का उदय होता है, तब वह पूर्णता को प्राप्त होता है । इस अंतिम भाव में पूर्व कथित सब भावों का मिश्रण रहता है, और इसकी व्यापकता इतनी अधिक है कि ये भाव उसी मनुष्य में उत्पन्न होंगे जिसमें स्वार्थ का लेश मात्र भी न होगा ।

जिस प्रकार व्यापकता में भाव उत्तरोत्तर वृद्धि लाभ करते उसी प्रकार वे गहरे भी होते जाते हैं । एक बच्चे के भाव

...णिक होते हैं। वे शीघ्र ही अभिव्यक्त होते और शीघ्र ही ...लीन हो जाते हैं। पर एक बड़े मनुष्य के विचार में परिपक्वता ...आ जाती है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार एक ही ...काम के बार बार करने से उसकी बान भी पड़ जाती है, उसी ...प्रकार विचारों में भावों की दशा होती है। किसी भाव पर बार ...बार मनन करते रहने से विचार-शक्ति का झुकाव उस ओर ...अधिक हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़ी सी उत्तेजना मिलते ही परिपक्व अवस्था के मनुष्य का चित्त चट उस भाव को पुन अभिव्यक्त कर देता है। मन ऐसा चचल है कि किसी एक वस्तु पर वह पूर्ण रूप में नहीं जमता। पर एक ही वस्तु का बार बार मनन करते रहने से मन का ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि उस भाव को मन में उद्भूत करने के लिये उसे कुछ सोचने विचारने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। चित्तवृत्ति, जो कि इधर उधर विचरती रहती है, अभ्यास के कारण आवश्यकता के उपस्थित होते ही चट मनोनीत वस्तु पर आ जमती है और थोड़ी सी उत्तेजना भी उसे जाग्रत करने में समर्थ होती है। इसी प्रकार मन का अभ्यास बढ़ते बढ़ते ऐसा दृढ़ हो जाता है कि वह चित्तवृत्ति आचरण का रूप धारण कर लेती है।

भाव अपने आलंबन से सदा संबद्ध रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये आलंबन मनुष्य में किसी कार्य को करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाले हो जाते हैं। ये प्रवृत्तियाँ पुन भावों पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें सुदृढ और सुस्पष्ट बना देती हैं। उदाहरण के लिये एक बच्चे को लीजिए। वह एक नारंगी खाता है। इसमें उसे आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द उसमें पुन

नारंगी खाने की इच्छा उत्पन्न करता है, अर्थात् प्रवृत्ति
धारण करता है। इसका फल यह होता कि उस बच्चे का
रूपी भाव उत्तरोत्तर दृढ और स्पष्ट होता जाता है।

जिस प्रकार भाव अनुभाव द्वारा सुखदायी तथा दुःख
प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार वस्तु या आलंबन भी सुखदायी व
दुःखदायी हो जाते हैं। यही प्रेम या घृणा की उत्पत्ति का
कारण है। ज्यों ज्यों अनुभव द्वारा अंतरात्मा की उन्नति होत
जाती है, त्यों त्यों भाव भी दृढ और स्पष्ट होते जाते हैं। मनु
केवल इंद्रिय-सुख-जनित संतोष से पूर्ण सुख नहीं प्राप्त
सकता। ऐसे सुख क्षण में उत्पन्न होते और क्षण ही में नष्ट
जाते हैं। मनुष्य भूख प्यास की संतुष्टि से उतना सुख नहीं
अनुभव करता, जितना किसी सुंदर वस्तुओं के निरीक्षण से प्राप्त
करता है। इसके अनंतर उसका प्रेम व्यक्ति विशेष और अंत
में परमात्मा पर आकर स्थिर होता है। बात यह है कि मनुष्य
अपनी अंतरात्मा का अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना, उसे समझ
ना और प्रत्यक्ष करना चाहता है। वह बाह्य पदार्थों, जीवों और
मनुष्यों में इस ज्ञान की खोज करता हुआ स्वयं अपनी ही अंत
रात्मा तक पहुँच जाता है और उसमें वास्तविक प्रेम का साक्षात्
रूप देखकर परमात्मा की ओर बढ़ता है। दार्शनिकों का मत है
कि भाव जितने ही तीव्र होते हैं, उतने ही वे अस्थिर भी होते
हैं और उतनी ही शीघ्रता से वे विलीन भी हो जाते हैं। भूख
बहुत शीघ्र लगती है, बहुत अधिक सताती है और खाद्य पदार्थ के
मिलते ही शीघ्र नष्ट भी हो जाती है।

अस्तु, दार्शनिकों के मत मे भाव तीन प्रकार के होते हैं—

र्यजनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक। जिस वस्तु से यह भाव जित होता है, वह आलंबन या विभाव कहलाती है। विभाव कारण मन में जो विकार उपन्न होता है, वह शरीर की भिन्न न क्रियाओ द्वारा प्रकट होता है, जैसे रोमाच, स्वेद आदि। हें अनुभाव कहते है। जो भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं, र जो समय समय पर मुख्य भाव का रूप धारण कर लेते उन्हें सचारी भाव कहते हैं। अतएव स्थायी या मुख्य भाव, भाव, अनुभाव और सचारी भाव ये चारों मिलकर रस को भिव्यक्त करते हैं।

यहाँ तक तो हमने मनोविज्ञान वेत्ताओ के विचारों के नुसार भावों का विवेचन किया। अब हम साहित्यज्ञों के चारों और सिद्धातों के अनुसार रस का निरूपण करते हैं।

रस निरूपण

इस बात के कहने की अब आवश्यकता नहीं है कि रसो की व्याख्या भावों पर अवलम्बित रहती है। "भावों मे चित्त की एकाग्रता विशेष रूप से रहती है। वह एकाग्रता साधारण ज्ञान में नहीं पाई जाती। भावो की स्थिति मे मानसिक क्रिया अत्यत तीव्र हो जाती है। भावों की क्रिया सचालन शक्ति भी ज्ञान की सचालन शक्ति से कहीं अधिक होती है। धर्म, अर्थ और काम सभी मे भावो से काम चलता है। भावों की प्रधानता धर्म मे ही नहीं, वरन राजनीति, समाज शास्त्र और विज्ञान में भी है। हर एक विषय के लिये विशेष रस और भाव काम में आते हैं। धर्म मे शात रस की प्रधानता रहती है। राजनीति और समाज शास्त्र में हास्य, करुण, भयानक, बीभत्स, वीर आदि सभी रसों से काम लिया जाता है।

प्रजनन शास्त्र का वात्सल्य और शृंगाररस से सम्बन्ध है। अद्भुत रस की प्रधानता रहती है। इतिहास में वीर रस का पड़ता है। तात्पर्य यह कि जीवन के प्रायः सभी विभागों में और रस से काम पड़ता है। जहाँ कोई युक्ति काम नहीं वहाँ भावों को उत्तेजना देकर ही काम निकाला जाता है। इन्हीं भावों का हमारे साहित्य शास्त्र मे बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है।

भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में लिखा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। हमारे दार्शनिक तथा साहित्यिक दोनों इस बात में सहमत हैं कि "भाव" और "चित्त वृत्ति" ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। किसी काव्य या अभिनय में आदि से अन्त तक स्थिर रहने के कारण इनको स्थायी भावों की संज्ञा दी गई है। जब ये भाव, विभाव, अनुभाव आदि से अभिव्यक्त होते हैं, तब इन्हें रस की सज्ञा दी जाती है। रस किस में तथा कैसे अभिव्यक्त होता है, इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। भट्ट लोलट्ट प्रभृति तो स्त्री, उद्यान आदि आलंबन-उद्दीपन विभा से उद्बुद्ध, कटाक्ष भुजक्षेपादि अनुभावो से परिपुष्ट तथा निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से रामादि में और गौण रूप से अभिनय करनेवाले नट में मानते हैं और उन्हीं में रस की सत्ता भी स्वीकृत करते हैं। उनके मत से अभिनय देखनेवालों या काव्य पढनेवालों से रस का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनके अनुसार तो भाव ~ । में उपन्न होते हैं, जिनका भिन्न भिन्न मानसिक क्रियाओं

,साक्षात सम्बन्ध होता है, उन क्रियाओ को देखनेवाले या
के परिणामों का प्रत्यक्ष करानेवाले तो पत्थर के निर्जीव
र्थ से हैं। उनके सामने कितना ही घोर अत्याचार क्यों न
जाय, उनमें न तो क्रोध ही का और न दया, करुणा
दि का भाव उत्पन्न होगा। वे लोग ससार रूपी रग-
ला मे केवल अपने अपने जीवन का अभिनय करनेवाले
नुष्यों मे इन रसो की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से मानते हैं,
र साथ ही वे यह भी कहते हैं कि इसका प्रभाव गौण रूप से
ट मे भी होता है। इनके विपरीत उन लोगों ने जो सामाजिको
र्थात् अभिनय देखनेवालों या काव्य पढनेवालो में रस की अभि-
यक्ति मानते हैं, लोलट्ट भट्ट आदि के मत का समर्थन न करके
दसोपयोगी ललितप्रयोग या अभिनय से उद्बुद्ध, 'शकुतला दुष्यन्त
की स्त्री है' इस प्रकार के विशेष ज्ञान से रहित, विभाव, अनु-
भाव, सचारी भाव से अभिव्यक्त, काव्य या अनुभव रूपी अलौ-
किक व्यापार से अज्ञान रूपी आवरण तथा अपने पराए के ज्ञान
के नष्ट हो जाने पर आनंदमय आत्मचैतन्य से प्रकाशित, तथा
पुरानी वासनाओं के रूप में पहले ही से विद्यमान, रति आदि
स्थायी भावों को ही रस कहा है। इन लोगों का कहना है कि
आत्मा तो आनन्द स्वरूप है ही और भाव भी अत करण में
पहले ही से विद्यमान हैं, परतु बीच में अज्ञान रूपी आवरण
होने के कारण स्थायी भाव आनन्दमय आत्म चैतन्य से प्रकाशित
नहीं होते। अभिनय या काव्य-व्यापार से यह आवरण नष्ट हो
जाता है और आनंदमय आत्म चैतन्य दीपक के समान प्रकाशमान
होता हुआ अत करण के धर्म स्वरूप स्थायी भावों को प्रकाशित

कर देता है। ये भाव अत करण के धर्म हैं, अतएव ये सदा वर्तमान रहते हैं, न ये उत्पन्न होते हैं और न इनका नाश होता है। केवल अज्ञान रूपी आवरण नष्ट होता और उत्पन्न होता रहता है और इसी से वे भाव भी लीन होते और अभिव्यक्त होते जान पड़ते हैं। इनको इसी कारण ब्रह्मानद सहोदर भी कहा है क्योंकि योगियों के सदृश सहृदयों की चित्तवृत्ति काव्य या अभिनय व्यापार से अज्ञान-रूपी आवरण के नष्ट होने पर आनन्दमय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित होकर आनन्दित हो जाती है। योगियों और सहृदयों मे भेद इतना ही है कि एक में विषयों के परित्याग मे और दूसरे में विषयों के भोग से आनन्द का प्रकाश होता है। विद्वानो का एक तीसरा दल है जो कहता है कि काव्य या अभिनय व्यापार से अभिव्यक्त, दुष्यत में शकुतला की रति देखकर तथा 'शकुतला मे रति रखनेवाला दुष्यत मैं ही हूँ' यह समझकर शब्द की व्यजना रूपी शक्ति और अत करण के सस्कार रूपी दोष मे अनुभूयमान, सीपी में रजत-ज्ञान के सदृश भ्राति-मूलक, अनिर्वचनीय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित शकुन्तला विषयक रति आदि भाव का नाम ही रस है। सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि रस उस लोकोत्तर आनद का नाम है जो काव्य या अभिनय व्यापार द्वारा उद्बुद्ध और अन्य सहायक भावों द्वारा अभिव्यक्त होता है।

अब यदि काव्य या अभिनय व्यापार से सहृदय यह समझने लगता है कि शकुन्तला में रति रखनेवाला दुष्यत मैं ही हूँ और इसी कारण वह आह्लाद का अनुभव करता है, तो जहाँ करुण रस है, वहाँ आह्लाद कैसे माना जा सकता है? वहाँ तो

दुःख ही अभिव्यक्त होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि सत्य ज्ञान से कल्पित या भ्रांतिमूलक ज्ञान का फल भिन्न होता है, तो फिर रति विषयक आनन्द की प्राप्ति भी कैसे मानी जा सकती है? रस्सी में साँप का भ्रांतिमूलक ज्ञान होने पर भी शरीर में कँपकँपी हो आती है। इस दशा में केवल यही कहा जा सकता है कि काव्य तथा अभिनय व्यापार में यही विशेषता है कि उससे आह्लाद तो होता है, परन्तु दुःख नहीं होता। यदि किसी को आनद के सदृश दुःख भी अनुभव होता हो तो उसको फिर किसी प्रकार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। अब यदि यह मान लिया जाय कि काव्य या अभिनय-व्यापार में नायक-नायकागत शोक भी सहृदय पाठकों या दर्शकों में हो जाता है, तो फिर वे काव्य क्यों पढ़ते और नाटक क्यो देखते हैं? इसका उत्तर यहाँ दिया जा सकता है कि यद्यपि रोटी खाने मे हाथ हिलाना पड़ता है, पर फिर भी लोग रोटी खाते हैं, क्योंकि हाथ हिलाने में जो कष्ट होता है, उसकी अपेक्षा भूख की शांति में अधिक आनन्द है। इसी प्रकार करुण रस प्रधान काव्य में अनिष्ट भाग की अपेक्षा इष्ट भाग के अधिक होने से लोग उसे पढ़ने या देखने मे प्रवृत्त होते हैं। जो लोग करुण रस मे भी आनन्द ही मानते हैं, उनको यह समझना चाहिए कि यदि रसज्ञ अभिनय या काव्य व्यापार से रो पड़ते हैं, तो इसका कारण कष्ट या दुःख नहीं होता, बल्कि एक प्रकार का आनन्द ही होता है। बहुत दिनों के बिछुड़े हुए भाई जब मिलते हैं, तब वे प्रायः गले लगकर रो पड़ते हैं। तो क्या यह माना जाय कि उनको मिलाप के कारण दुःख हुआ

कर देता है। ये भाव अंतःकरण के धर्म हैं, अतएव ये सा
वर्तमान रहते हैं, न ये उत्पन्न होते हैं और न इनका नाश होत
है। केवल अज्ञान रूपी आवरण नष्ट होता और उत्पन्न होत
रहता है और इसी से वे भाव भी लीन होते और अभिव्यक्त हो
जान पड़ते हैं। इनको इसी कारण ब्रह्मानंद सहोदर भी कहा है,
क्योंकि योगियों के सदृश सहृदयों की चित्तवृत्ति काव्य या अभि
नय व्यापार से अज्ञान-रूपी आवरण के नष्ट होने पर आनन्दमय
आत्म-चैतन्य से प्रकाशित होकर आनन्दित हो जाती है। योगियों
और सहृदयों में भेद इतना ही है कि एक में विषयों के परित्याग
से और दूसरे में विषयों के भोग से आनन्द का प्रकाश होता है।
विद्वानों का एक तीसरा दल है जो कहता है कि काव्य या अभि
नय व्यापार से अभिव्यक्त, दुष्यंत में शकुंतला की रति देखक
तथा 'शकुंतला में रति रखनेवाला दुष्यंत मैं ही हूँ' यह समझक
शब्द की व्यंजना रूपी शक्ति और अंतःकरण के संस्कार रू
दोष से अनुभूयमान, सीपी में रजत-ज्ञान के सदृश भ्रांति-मूलक
अनिर्वचनीय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित शकुन्तला विषयक र
आदि भाव का नाम ही रस है। संक्षेप में हम यह कह सक
हैं कि रस उस लोकोत्तर आनंद का नाम है जो काव्य या अभि
नय व्यापार द्वारा उद्बुद्ध और अन्य सहायक भावों द्वारा अभि
व्यक्त होता है।

अब यदि काव्य या अभिनय व्यापार से सहृदय यह समझ
लगता है कि शकुन्तला में रति रखनेवाला दुष्यंत मैं ही
और इसी कारण वह आह्लाद का अनुभव करता है, तो ज
करुण रस है, वहाँ आह्लाद कैसे माना जा सकता है? वहाँ

ानन्द प्राप्त होता है, उसी को साहित्य शास्त्र में रस कहते हैं। ह रस भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से रिपक्वता को प्राप्त होता है, अथवा यों कह सकते हैं कि स्थायी ावों की परिपाकावस्था का नाम ही रस है।

भावो के विषय में हम विशेष रूप से लिख चुके हैं, अतः व उनके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

स्थायी भाव

काव्य या अभिनय में आदि से अत तक स्थिर रहने के कारण भावों को स्थायी भाव कहा गया है। यह प्रश्न उठ सकता है कि भाव तो क्षण क्षण में बदलते रहते हैं, फिर उनमें स्थिरता कहाँ से आ सकती है? यदि यह उत्तर दिया जाय कि सब भाव सस्कार रूप से स्थिर रहते हैं और विभाव आदि से अभिव्यक्त होते हैं, तो यह कहा जा सकता है कि इस अवस्था में रति से भिन्न कोई दूसरा व्यभिचारी भाव भी वहाँ पर क्यों स्थिर नहीं हो सकता, और यदि हो सकता है तो फिर व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव में भेद ही क्या रहा? इसका उत्तर यह है कि जब एक ही भाव बार बार अभिव्यक्त होता है और दूसरे भाव उसे पुष्ट करते हैं, तभी वह वास्तव में स्थायी भाव कहा जाता है। दूसरे भाव तो बिजली की चमक के समान उत्पन्न होते और स्थायी भाव को पुष्ट करके लुप्त हो जाते हैं। इसलिये साहित्य शास्त्रियों ने कहा है—"जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से नष्ट न होकर समुद्र की तरह सबको अपने में समा ले, और जो चिरकाल से चित्त में सस्कार रूप से रहता हुआ विभावादि से अभिव्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त हो, वही स्थायी भाव है।"[1]

है ? वास्तव मे यह आनन्द का ही एक रूप या उद्गार है । प्राय भगवद्भक्त भक्ति मे अतिशय लीन हो जाते हैं और रो पड़ते हैं, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनको भगवद्भक्ति में दु ख का अनुभव हुआ है । निस्संदेह कुछ लोग कह सकते हैं कि अभिनय देखते समय पुत्र वियोग मे दु खित दशरथ मैं ही हूँ । इस प्रकार के कल्पित ज्ञान से यदि करुण रस मे भी आह्लाद माना जाय, तो स्वप्न या सन्निपात में लोग क्यों चौंक पड़ते हैं और आह्लाद अनुभव करने के बदले क्यो रो पड़ते हैं ? इसका समाधान इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि यह काव्य या अभिनय व्यापार की विशेषता है कि भिन्न भिन्न रसों का सचार होने पर भी हमें एक प्रकार के आह्लाद का ही अनुभव होता है जो नित्य प्रति होनेवाले आह्लाद से भिन्न होता है

यहाँ यह बात ध्यानपूर्वक समझ लेनी चाहिए कि वास्तविक अनुभूत भाव मे तथा काव्य के भाव में एक बडा भेद है । जब बहुत दिनो के बिछुडे हुए माता पुत्र अनेक दु ख और सकट सहकर मिलते हैं, तब उनमे एक विशेष प्रकार का भाव उत्पन्न होता है । ठीक वही भाव उस समय हमारे हृदय में नहीं उत्पन्न होता जब हम उन दोनों के कष्टों, आपदाओं और आनद का वर्णन पढते हैं अथवा उसका अभिनय देखते हैं । ससार मे नित्य लाखों जीव मरा करते हैं । सब के लिये हमे दु ख नहीं उत्पन्न होता, परंतु जब हम किसी के दु ख का विशेष प्रकार से वर्णन पढ़ते, सुनते या उसका अभिनय देखते हैं, तब हममें करुण रस सचार हो जाता है । सारांश यह है कि काव्य या अभिनय-मे देखने या पढनेवालों को जो अनिर्वचनीय, लोकोत्तर

सकता है कि दर्शकों में वैराग्य आदि भावों के होने से उनमें शांत रस का आविर्भाव नहीं हो सकता। यदि उनमें इसकी सत्ता मान भी ली जाय, तो उनका नाटक देखना विचार-सगत नहीं जान पड़ता। परंतु यह बात न भूलनी चाहिए कि मनुष्यों में सभी भाव संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं, और काव्य या अभिनय-व्यापार द्वारा उनमें से कोई अभिव्यक्त हो जाता है। नट में शांति या निर्वेद के न होने से जो लोग उसमें शांत रस का आविर्भाव नहीं मानते, वे उसमें क्रोधादि के अभाव में रौद्रादि का आविर्भाव कैसे मान सकते हैं। शिक्षा तथा अभ्यास से यदि नट शृंगार रस का अभिनय कर सकता है, तो शांत रस का अभिनय भी उसकी शक्ति के बाहर नहीं है। यही कारण है कि संगीतरत्नाकर में लिखा है—"जो लोग नाट्य में आठ ही रसों को मानते हैं और शांत रस को रसों की कोटि से अलग कर देते हैं, उनको यह समझ लेना चाहिए कि इस विचार से तो कोई रस रसों की कोटि में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि नट को किसी रस का स्वयं स्वाद नहीं लेना पड़ता।" इस झगड़े का मूल रसों की स्थिति में मतभेद है। पर जैसा हम कह चुके हैं, रसों की अभिव्यक्ति नाटक देखनेवालों और काव्य पढ़ने या सुननेवालों में होती है। अतएव कोई कारण नहीं है कि शांत रस और निर्वेद स्थायी भाव को हम रसों और स्थायी भावों की कोटि में न मानें।

स्थायी भावों तथा रसों का वर्गीकरण चिरकाल से श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जा रहा है। समय समय पर विद्वानों ने इसकी त्रैकालिक सत्यता में संदेह प्रकट किया है, परंतु इसमें

स्थायी भाव और रस में कोई बड़ा भेद नहीं है। स्थायी भाव का परिपाक ही रस है। कुछ विद्वानों का मत है कि घड़े तथा घट में विद्यमान आकाश में जो भेद है, वही भेद स्थायी भाव तथा रस में है। दूसरे लोग कहते हैं कि सीपी में रजत विषयक भ्रांतिमय ज्ञान में और सत्य रजत विषयक ज्ञान में जो भेद है, वही भेद रस तथा स्थायी भाव में भी है। कुछ विद्वान् दोनों में उतना ही भेद मानते हैं जितना कि विषय तथा विषय-ज्ञान में है। हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि रस के प्रधान भाव या मनोवेग को स्थायी भाव कहते हैं। इस स्थायी भाव के कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव तथा सहकारी भाव को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं।

हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत ये नौ रस माने हैं, और रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद इन नौ मुख्य भावों को क्रमशः उनका स्थायी भाव माना है। जो लोग नट में ही रस की अवस्थिति मानते हैं, उनके लिये यह स्वाभाविक ही नहीं बल्कि अनिवार्य था कि वे रसों में शांत रस को और स्थायी भावों में निर्वेद को स्थान न देते। उनका कहना था कि जो नट हाव भाव दिखाता तथा अभिनय करता है, वह शांतिमय कहाँ रह सकता है। अतएव नट की शक्ति के बाहर होने से शांत रस कोई रस ही नहीं है। परंतु दूसरे लोग रस की अभिव्यक्ति नट में न मानकर सहृदयों में मानते हैं, अतएव इस रस के लिये शांत वा अशांत रहने की अपेक्षा नहीं है। इस पर यह कहा जा

रसों तथा स्थायी भावों की संख्या

सकता है कि दर्शकों में वैराग्य आदि भावों के होने से उनमें शांत रस का आविर्भाव नहीं हो सकता। यदि उनमें इसकी सत्ता मान भी ली जाय, तो उनका नाटक देखना विचार-सगत नहीं जान पड़ता। परन्तु यह बात न भूलनी चाहिए कि मनुष्यों में सभी भाव सस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं, और काव्य या अभिनय-व्यापार द्वारा उनमें से कोई अभिव्यक्त हो जाता है। नट में शांति या निर्वेद के न होने से जो लोग उसमें शात रस का आविर्भाव नहीं मानते, वे उसमें क्रोधादि के अभाव में रौद्रादि का आविर्भाव कैसे मान सकते हैं। शिक्षा तथा अभ्यास से यदि नट शृगार रस का अभिनय कर सकता है, तो शात रस का अभिनय भी उसकी शक्ति के बाहर नहीं है। यही कारण है कि सगीतरत्नाकर में लिखा है—"जो लोग नाट्य मे आठ ही रसों को मानते हैं और शात रस को रसो की कोटि से अलग कर देते हैं, उनको यह समझ लेना चाहिए कि इस विचार से तो कोई रस रसों की कोटि में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि नट को किसी रस का स्वय स्वाद नहीं लेना पड़ता।" इस झगड़े का मूल रसों की स्थिति में मतभेद है। पर जैसा हम कह चुके हैं, रसों की अभिव्यक्ति नाटक देखनेवालो और काव्य पढ़ने या सुननेवालों में होती है। अतएव कोई कारण नहीं है कि शात रस और निर्वेद स्थायी भाव को हम रसों और स्थायी भावो की कोटि में न मानें।

स्थायी भावों तथा रसों का वर्गीकरण चिरकाल से श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार किया जा रहा है। समय समय पर विद्वानों ने इसकी त्रैकालिक सत्यता में सदेह प्रकट किया है. परत इसमें

परिवर्त्तन करने से साहित्य शास्त्र मे कुठाराघात होता देखकर उन्होंने मौन व्रत धारण करने ही मे श्रेय समझ उसमें हस्तक्षेप नहीं किया। कुछ विद्वानो ने स्थायी भावों तथा रसों की सख्या मे परिवर्तन करने का भी उद्योग किया है। विश्वनाथ पण्डितराज ने स्नेह को स्थायी भाव रखकर, वत्सल रस की और रुद्रट ने प्रीति को स्थायी भाव मानकर प्रेमान् रस की वृद्धि करने का यत्न किया है। इसी प्रकार भगवद्भक्तों ने 'श्रीकृष्ण में आलबित, रोमाच और अश्रुपातादि से अनुभावित, हर्षादि से परिपोषित, पुराण-श्रवणादि के समय मे अनुभूयमान भक्ति रस को रसो की कोटि में घुसाना चाहा, परन्तु स्त्री-पुरुष विषयक रति के अवभक्त आलकारिकों को यह सब कुछ भी न रुचा। उन्होंने भक्ति रस के स्थायी भाव अनुराग को, प्रेमान् रस के स्थायी भाव प्रीति को तथा वत्सल रस के स्थायी भाव स्नेह को रति के सम्मुख हेय, तुच्छ तथा सूखा प्रकट करते हुए उन्हे भावों के समूह में मिला दिया। जिन्होंने भगवदनुराग, वालक स्नेह या पारस्परिक प्रीति को स्थायी भाव बनाकर स्त्री-पुरुष विषयक असात्विक रति को भावों के ढेर में फेकना चाहा, उनके सिर पर अलकार शास्त्र के चौपट हो जाने के भय का भूत सवार हो गया। किसी अश में इस आशका में सचाई भी है। इसमे सदेह नहीं कि अनुराग, प्रीति, स्नेह तथा रति मे घनता, पूर्णता तथा स्थिरता के विचार से रति को ही प्रथम श्रेणी मे रखना पडता है, परन्तु जो लोग जुगुप्सा, शोक आदि को स्थायी भाव न मानकर भाव ही मानना चाहें, उनका समाधान करना असम्भव है।

भाव तथा स्थायी भाव इन दोनों मे 'स्थायी' शब्द विशेषण

रूप से आकर दोनों के भेद को स्पष्ट करता है। कुछ विद्वानो का मत है कि रति, शोक, क्रोध आदि आरभ से अन्त तक स्थिर रहते हैं, और जो तेतीस सचारी या व्यभिचारी भाव हैं, उनमें यह गुण नहीं है। यही कारण है कि वे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो से अभिव्यक्त देवादि विषयक अनुराग तथा तेतीस गौण भावों को "भाव" सज्ञा देते हैं। काव्य या अभिनय में इनके आदि से अन्त तक स्थिर न रहने से और विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों को अपने मे लीन करने मे अशक्त होने मे इनका पूर्ण रूप से परिपाक नहीं होता और इसी लिये ये रसावस्था को भी प्राप्त नहीं होते।

काव्य या अभिनय का समाज तथा जाति से जो सम्बन्ध है, उसके विषय मे हम लिख चुके हैं। मुख्यतया उन्हीं में रसों या भावों की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि समाज तथा जाति के प्रतिकूल वर्णन तथा अनुचित प्रसग से अभिव्यक्त भाव तथा रस को भावाभास तथा रसाभास माना जाता है। नीच पुरुष की उत्तम स्त्री पर, उत्तम स्त्री की नीच पुरुष पर, एक स्त्री या पुरुष की अनेक पुरुषों या स्त्रियों पर प्रीति, देवता, गुरु, मुनि तथा पूज्य व्यक्तियों का उपहास, अशोच्य विषयक शोक, पूज्यों पर क्रोध, अनुचित तथा अयथार्थ विषय में उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद भावाभास तथा रसाभास के उदाहरण हैं। जब भाव को अकुरित होने के अनतर उद्दीपक विभाव तथा व्यभिचारी भाव से उद्दीपन और परिपोषण न मिले, तब उसको भावोदय, जब उसके स्थान पर दूसरा भाव प्रबल होकर उसको

भावाभास तथा रसाभास

अपने मे लीन कर ले, तब उसको भावशांति, जब दो भाव एक से प्रबल हो तब उसको भाव संधि, और जब अनेक भाव प्रबल हो या एक को दूसरा, दूसरे को तीसरा तथा तीसरे को चौथा दबाकर प्रबल हो, तब उसको भाव-शबलता का नाम दिया जाता है।

व्यभिचारी भाव

"जो भाव रस के उपयोगी होकर जल की तरगों की भाँति उसमे सचरण करते हैं, उनको सचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं।" स्थायी भावों की भाँति यह रससिद्धि तक स्थिर नहीं रहते, बल्कि अत्यत चचलता-पूर्वक सब रसों मे सचरित होते रहते हैं। हमारे मन के भाव आपस मे एक दूसरे से ऐसे मिले रहते हैं कि उनको अलग अलग करके उनकी सीमा निर्धारित करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असभव है। हमारा मानसिक जीवन बड़ा ही जटिल है। एक भाव के साथ ही दूसरे अनेक भावों का उदय होता है। वे आपस में मिश्रित रहते हैं, वे अकेले उद्भूत नहीं हो सकते। इन सचारी भावों मे एक विशेषता यह है कि वे सदा सचारी या सहायक ही नहीं बने रहते, कभी कभी उनमें से कई एक स्वय भी स्थायी भाव बन जाते हैं। दूसरे कई सचारी भाव ऐसे हैं जो एक ही स्थायी भाव में नहीं बल्कि कई स्थायी भावों मे अनुकूल स्थिति पाने पर मिश्रित हो जाते है। मुख्य सचारी भाव ३३ माने गए हैं। कई लोगों का मत है कि चित्तवृत्तियों को ३३ भावों मे विभक्त करना ठीक नहीं है। मात्सर्य, उद्वेग, दभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, वितर्क, उत्कठा, विनय, सशय, धृष्टता आदि अनेक भाव हैं जो इन ३३ भावों में नहीं आ सकते। इस

प्रकार तो इन भावों की गिनती का कोई ठिकाना ही नहीं हो सकता। पर यदि काम चलाने का उद्देश हो तो असूया में मात्सर्य, त्रास में उद्वेग, अवहित्थ में दम्भ, अमर्ष में ईर्ष्या, मति में विवेक तथा निर्णय, दैन्य मे क्लैव्य, धृति में क्षमा, औत्सुक्य मे वितर्क तथा उत्कंठा, लज्जा या व्रीडा में विनय, तर्क में संशय, तथा चापल्य मे धृष्टता को अंतर्गत मान सकते हैं। व्यभिचारी भावों में से कोई किसी के प्रति अनुभाव तथा किसी के प्रति विभाव हो जाता है, जैसे ईर्ष्या निर्वेद में विभाव और असूया मे अनुभाव होती है। वैसे ही निद्रा में चिंता विभाव और औत्सुक्य में अनुभाव होती है।

हम यह कह चुके हैं कि भाव एक प्रकार की चित्तवृत्ति या मनोविकार हैं। कोई मनोविकार या भाव स्वयं उत्पन्न नहीं होता। एक विकार दूसरे विकार को उत्पन्न करता है।

विभाव

जो व्यक्ति या पदार्थ आदि भावों को उत्पन्न करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनका आलंबन करके भाव उत्पन्न होते हैं और दूसरे वे जिनके सहारे भावों का उद्दीपन होता है। मान लीजिए कि हमारे एक प्रिय मित्र का देहावसान हो गया। हमको इसके कारण अत्यंत शोक हुआ। उसका चित्र अथवा उसकी दी हुई किसी वस्तु को देखकर हमारा शोक और भी बढ गया। उसका स्मरण करते ही हमारी आँखों में आँसू भर आए और हम रोने लग पड़े। अन्य संचारी भावों ने हमारे इस शोक भाव की पुष्टि की। अब यहाँ स्थायी भाव तो शोक हुआ। इस का आलंबन मित्र का देहावसान है और उसके चित्रादि का दर्शन उस शोक भाव को और

भी उद्दीप्त कर देता है। ठीक इसी विभेद को लेकर विभावों को आलंबन और उद्दीपन विभावों में विभक्त किया गया है।

हम यह बात लिख चुके हैं कि भावों की उत्पत्ति के अनंतर शरीर में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं।

अनुभाव

यदि कोई मनुष्य किसी को कोई लगती बात कह दे तो उसके सुनते ही उस दूसरे मनुष्य के मन में क्रोध हो आवेगा, उसके नेत्र लाल हो जायँगे, होठ फडकने लगेंगे, भौंहें चढ जायँगी, नथने फूल जायँगे। अब यहाँ क्रोध तो मुख्य या स्थायी भाव हुआ, लगती बात कहनेवाला मनुष्य आलंबन विभाव हुआ, उसकी लगती बात उद्दीपन विभाव हुई, और सुननेवाले की आँखो का लाल होना, होठों का फड़कना, भौंहों का चढ जाना तथा नथनों का फूल जाना अनुभाव हुआ। यदि उस लगती बात कहनेवाले मनुष्य ने उस दूसरे मनुष्य का पहले कभी अनादर या अपकार किया हो, तो उस बात की स्मृति उस क्रोध के भाव को और भी बढा देगी। यह स्मृति संचारी भाव का काम करेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि कैसे एक भाव के परिपाक में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सहायता पहुँचाते हैं।

अनुभाव चार प्रकार के माने गए हैं—कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक। आँख, भौंह, हाथ आदि शरीर के अङ्गों द्वारा जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उन्हें कायिक या कृत्रिम अनुभाव कहते हैं। ये मनोविकारों के अनंतर होते हैं और उन्हीं के अनुरूप शरीर की भिन्न भिन्न क्रियाएँ और मुख की चेष्टाएँ उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार का मनोविकार उत्पन्न हुआ हो, अथवा

...अभिनय में नाट्य द्वारा जिन मनोविकारों को प्रदर्शित करना हो, ...उन्हीं के अनुकूल मानसिक अवस्था को मानसिक अनुभाव ...कहते हैं। कायिक तथा मानसिक अनुभावों के अंतर्गत बारह ...हाव माने गए हैं। वेष भूषा से अभिनय में जो भाव प्रदर्शित ...किए जाते हैं, उन्हें आहार्य अनुभाव कहते हैं। शरीर के ...सहज अंग विकार अथवा सजीव शरीर धर्म से उत्पन्न होनेवाले ...स्वाभाविक अंगविकारों को सात्विक अनुभाव कहते हैं। ये आठ ...माने गए हैं।

हमारा उद्देश रसों पर कोई निबन्ध लिखने का नहीं था, अतएव हमने मुख्य बातों का संक्षेप में वर्णन कर दिया है और उस पर यथास्थान अपने विचार भी दे दिए हैं। हमारी भारतीय कविता को समझना और उसका रसास्वादन करना रसों का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त किए बिना नहीं हो सकता। सब देशों में काव्य का प्रधान आधार मनोवेग या भाव माने गए हैं। उन्हीं भावों या मनोवेगों को लेकर हमारे यहाँ बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है और उसे रस का नाम देकर काव्य का सर्वस्व मान लिया है। बात एक ही है, केवल उसके विवेचन का ढंग अलग अलग है। अब हम काव्य के एक और तत्व शैली का विवेचन करके यह विषय समाप्त करते हैं।

नवाँ अध्याय

शैली का विवेचन

हम पिछले अध्याय में काव्य के तीन तत्त्वों का विवेचन कर चुके हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि उनमें एक चौथा तत्त्व मानना आवश्यक है। उनका कहना है कि कवि या लेखक की सामग्री चाहे कैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके भाव, विचार और कल्पना चाहे कितनी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हो, जब तक उसकी कृति मे रूप-सौंदर्य नहीं आवेगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा रूप न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता के सिद्धातो के अनुकूल हो, तब तक उसकी कृति काव्य न कहला सकेगी। अतएव चौथा तत्त्व अर्थात् रचना-चमत्कार भी नितात आवश्यक है।

रचना-चमत्कार का दूसरा नाम शैली है। किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्याशो का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।

शैली का रूप

हम पहले लिख चुके हैं कि किसी के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से विचार अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यजित करने का ढग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का

परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ सगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

काव्य की अन्तरात्मा का हम विशेष रूप से विवेचन कर चुके हैं। अब उसके बाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है, क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो ससार को उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। वह उसका अग है। उसी में उसके जीवन और कर्तव्य का साफल्य है। वह अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को स्वयं जानना चाहता है। साराश यह है कि मनुष्य समाज में भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय नित्य प्रति होता रहता है। भावों, विचारों और कल्पनाओं का यही विनिमय ससार के साहित्य का मूल है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खडा होता है। जिस जाति का यह प्रासाद जितना ही मनोहर, विस्तृत और भव्य होगा, वह जाति उतनी ही उन्नत मानी जायगी। इसके अतिरिक्त हमें आपस के नित्य के व्यवहार में कभी दूसरों को समझाना, कभी उन्हें अपने पक्ष में करना और कभी प्रसन्न करना पड़ता है। यदि वे शक्तियाँ आदि अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान न हों तो मनुष्यों के सब काम रुक जायँ। साहित्य-शास्त्र का काम इन्हीं शक्तियों को परिमार्जित और उत्तेजित करके उन्हें अधिक उपयोगी बनाना है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि

भाव, विचार और कल्पना तो हम में नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान रहती है, और साथ ही उन्हे व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हम में रहती है। अब यदि उस शक्ति को बढाकर, सस्कृत और उन्नत करके, हम उसका उपयोग कर सकें तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओ के द्वारा हम ससार के ज्ञान-भाडार की वृद्धि करके उसका बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य मे शैली कहते हैं।

हम कह चुके हैं कि मनुष्य को प्राय दूसरों को समझाना, किसी कार्य मे प्रवृत्त कराना अथवा प्रसन्न करना पडता है। ये तीनो काम मनुष्य की भिन्न भिन्न तीन मानसिक शक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। समझना या समझाना बुद्धि का काम है, प्रवृत्त होना या करना सकल्प का काम है और प्रसन्न करना या होना भावों का काम है। परन्तु प्रवृत्त करने या होने में बुद्धि और भाव दोनों सहायक होते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हम सकल्प शक्ति को मनोनीत रूप देने में समर्थ होते हैं। बुद्धि की सहायता से हम किसी बात का वर्णन, कथन या प्रतिपादन करते हैं, और भावों की सहायता से काव्यो की रचना कर मनुष्य का समस्त ससार से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते है। इसलिये शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि मनुष्य के ऊपर कहे हुए तीनो कामों को पूरा करने के लिये हम अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभाव शाली बना सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इस बात का विचार करें कि यह प्रभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष

क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने मे समर्थ होते हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द हैं जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व समझना चाहिए। प्राय देखने मे आता है कि जिन लेखकों की लेखन शैली प्रौढ नहीं है, जो अभी अपने साहित्यिक जीवन की प्रारंभिक अवस्था मे ही हैं, उनकी कृतियों मे शब्दों का बाहुल्य और भावों तथा विचारों आदि की न्यूनता रहती है। ज्यों ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जाता है और उनमें लेखन शक्ति की वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों उनमे शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। मध्यावस्था में प्राय शब्दों और भावों आदि मे समानता आ जाती है और प्रौढावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट देख पड़ती है। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि मानों शब्दों और भावों में होड़ मची हुई है। दोनो कवि या लेखक की कृति में अग्रसर होकर प्रधान स्थान ग्रहण करने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। पर इस होड़ में शब्द पीछे रह जाते हैं और भाव आगे निकल जाते हैं। एक ही भाव के लिये अनेक शब्द मिलने लगते हैं और लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी बड़ी गभीर और भावपूर्ण बाते कहने मे समर्थ होता है। अतएव प्रारंभिक अवस्था मे प्राय-शब्दाडंबर ही अधिक देख पड़ता है। उस समय लेखक को अपने भावों को स्पष्ट करने के लिये अनेक शब्दों को ढूँढ ढूँढकर लाना और सजाना पड़ता है। इससे प्राय स्वाभाविकता की

शब्दों का महत्त्व

कमी हो जाती है और शब्दों की छटा में भी वैसी मनोहरता नहीं देख पडती। एक ही बात अनेक प्रकार के शब्दों और वाक्यों में घुमा फिराकर कहनी पडती है। पर प्रौढावस्था में ये सब बाते नहीं रह जातीं। वहाँ तो एक शब्द के भी घटाने बढाने की जगह नहीं रहती। जो लेखक या कवि विद्याव्यसनी नहीं होते, जिन्हें अपने विचारों को प्रौढ करने का अवसर नहीं मिलता, या जिनकी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती, उनमें यह दोष अन्त तक वर्तमान रहता है और उनकी कृति वाग्बाहुल्य से भरी रहती है। इसलिये लेखकों या कवियों को शब्दों के चुनाव पर बहुत ध्यान देना चाहिए। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सब से आवश्यक बात है, और इस गुण को प्रतिपादित करने मे उन्हें दत्तचित्त रहना चाहिए। इस कार्य मे स्मरण शक्ति बहुत सहायता देती है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। इसी नींव पर यह सुदर प्रासाद खडा किया जा सकता है। अत एव यह आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भाडार बहुत प्रचुर हो और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण रहे कि मेरे भाडार में कौन कौन से रत्न कहाँ रखे हैं, जिसमें प्रयोजन पडते ही वह उन रत्नों को निकाल सके। ऐसा न हो कि उनको ढूँढने मे ही उसे बहुत सा समय नष्ट करना पडे और अन्त में झूठे या कातिहीन रत्नों को इधर-उधर से मँगनी माँगकर अपना काम चलाना पडे।

कवि या लेखक के लिये शब्द-भाडार का महत्व कितना अधिक है, यह इसी से समझ लेना चाहिए कि युरोप में साहित्यालोचकों ने बडे बडे कवियों और लेखकों द्वारा प्रयुक्त

शब्दों की गिनती तक कर डाली है और उससे वे उनके साहित्य की थाह लेते हैं। हमारे यहाँ इस ओर अभी ध्यान नहीं गया है। परन्तु जब तक ऐसा न हो, तब तक उनकी भावों को व्यजन करने की शक्ति और उसके ढग के आधार पर ही हमें उनके विषय में अपने सिद्वात स्थिर करने होंगे। हम किसी कवि या लेखक के ग्रन्थ को ध्यानपूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, उसने शब्दों का कैसा प्रयोग किया है और कहाँ तक वह इस कार्य में दूसरों से बढ़ गया या पीछे रह गया है। इसी प्रकार हम सहज ही में यह भी जान सकते हैं कि किस प्रकार के भाव प्रकट करने में कौन कहाँ तक कृतकार्य हुआ है। यह अनुमान करना कि सब विषयों पर लिखने के लिये सब के पास यथेष्ट शब्द-सामग्री होगी, उचित नहीं होगा। सब मनुष्यों का स्वभाव एक सा नहीं होता और न उनकी रुचि ही एक सी होती है। इस अवस्था में यह आशा करना कि सब में सब विषयों पर अपने भाव प्रकट करने की एक सी शक्ति होगी, जान बूझकर अपने को भ्रम में डालना होगा। ससार में हमको रुचिवैचित्र्य का निरंतर साक्षात्कार होता रहता है, और इसी रुचिवैचित्र्य के कारण लोगों के विचार और भाव भी भिन्न होते हैं। अतएव जिसकी जिस बात में अधिक रुचि होगी, उसी के विषय में वह अधिक सोचे विचारेगा और अपने भावों तथा विचारों को अधिक स्पष्टता तथा सुगमता से प्रकट कर सकेगा। इसी कारण उस विषय से सबध रखनेवाला उसका शब्द-भाडार भी अधिक पूर्ण और विस्तृत होगा। पर इतना होते हुए भी शब्दों

के प्रयोग की शक्ति केवल रुचि पर निर्भर नहीं हो सकती। रुचि इस कार्य में सहायक अवश्य हो सकती है, पर केवल उसी पर भरोसा करने से शब्दों का प्रयोग करने की शक्ति नहीं आ सकती। यदि हम कई भिन्न भिन्न पुरुषों को चुन लें और उन्हें गिने हुए सौ दो सौ शब्द देकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने ही चुने हुए विषयों के सम्बन्ध में अपने अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिये कहें, तो हम देखेंगे कि सामग्री की समानता होने पर भी उनमें से हर एक का ढंग निराला है। यदि एक मे विचारों की गंभीरता, भावों की मनोहरता तथा भाषा की उपयुक्त गठन है, तो दूसरे में विचारों की निस्सारता, भावों की अरोचकता और भाषा की शिथिलता है, और तीसरे में भावों और विचारों की ओर से उदासीनता तथा वाग्बाहुल्य की ही विशेषता है। इसलिये केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढङ्ग पर विचार करना भी नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन करना चाहिए कि किसी वाक्य मे शब्द किस प्रकार सजाए गए हैं और उनको वाक्य-रूपी माला मे चुनकर गूथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।

हमारे यहाँ शब्दों मे शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोए नहीं जाते, तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी

प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अंतर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से उनके सजाए जाने पर ही होता है। अतएव हम वाक्यों के विचार के साथ ही इसका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्व का है। वना शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस सम्बन्ध में सब से पहली बात, जिस पर हमें विचार करना चाहिए, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करनेवाले शब्दों का हमें उपयोग करना चाहिए। बिना सोचे समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की सुन्दरता नष्ट करता और लेखक के शब्द भाडार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानता प्रकट करता है। अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिए।

इसके अनंतर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेक प्रकार बताए हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिये सब से अधिक अच्छा

वाक्यों की विशेषता

वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योच्चय कह सकते हैं और जिसमे तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं हो जाता। हम उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

"चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अन्त यदि किसी बात से हो सकता है, तो वह केवल स्वराज्य से।"

इस वाक्य का प्रधान अङ्ग "वह केवल स्वराज्य से (हो सकता है)" है, जो सबके अन्त में आता है। इस अन्तिम अंश में कर्त्ता "वह" है। पहले के जितने अंश हैं, वे अन्तिम वाक्यांश के सहायक मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव की पुष्टि मात्र करते हैं और पढनेवाले या सुननेवाले में उत्कंठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अन्त तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढते ही कि "चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें" हम यह जानने के लिये उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढते ही वह हमारी जिज्ञासा को संकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिये हमारी उत्सुकता को विशेष जाग्रत कर देता है। अन्तिम वाक्यांश को पढते ही हमारा सन्तोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढनेवाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने योग्य है

वह शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो, यदि एक वाक्यांश कहकर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिये अनेक ऐसे छोटे छोटे शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक हों, तो उन छोटे छोटे वाक्यांशों की भूलभुलइयों में मुख्य भाव प्राय लुप्त सा हो जायगा, और वह वाक्य अपनी जटिलता के कारण पढने-वाले को निरुत्साहित कर उसकी जिज्ञासा को मंद कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्योच्चय बहुत बड़े तथा लंबे न हों। उनके बहुत अधिक विस्तार से संघटनात्मक गुणों का नाश हो जाता है और वे मनोरंजक होने के बदले अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यों की लम्बाई या विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। यह तो लेखक के अभ्यास, कौशल और सौष्ठव-बुद्धि पर निर्भर है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेख या भाषण के विषय के आधार पर इस सीमा को निर्धारित करना उचित होगा। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वाञ्छनीय है। सरल और सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों, तो उनसे उतनी हानि नहीं होती। कई लेखकों में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे जान बूझकर अपने वाक्यों को विस्तृत और जटिल बनाते हैं और उन्हें अनावश्यक वाक्यांशों से लाद चलते हैं, और प्राय लेखक स्वय ही यह बात भूल जाता है कि

किस मुख्य भाव को लेकर मैंने अपना वाक्य आरम्भ किया था। ऐसे वाक्य के समाप्त होते ही वह मुख्य भाव को भूलकर और किसी दूसरे गौण भाव को लेकर दौड पडता है और अपने वाक्यो में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस भारी दोष से बचने ही में लाभ है।

जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक से रूप और आकार के होते हैं, तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं। इन समीकृत वाक्यों की समरूपता या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती है अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निर्भर रहती है। इन वाक्याशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्राय भिन्न ही होते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये हम एक उदाहरण देते हैं—

"चाहे हमारी निन्दा हो चाहे स्तुति चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो चाहे हम अभी बरसों जीएँ, चाहे हमें लक्ष्मी स्वीकार करे, चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्र्यमय हो जाय, परन्तु जो व्रत हमने धारण किया है, उससे हम कभी विचलित न होंगे"।

इस प्रकार के वाक्यो का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है—एक तो जब वाक्यों की शृंखला किसी एक ही प्रणाली पर बनाई जाती है, तब वह हमारी स्मरण शक्ति को सहायता पहुँचाती है और एक से वाक्याशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है। जब हम यह जान लेते हैं कि भिन्न भिन्न वाक्याशो में किस बात में समानता है, तब हमें केवल उनकी विभिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रबन्ध-रचना का यह साधारण नियम है कि यदि दो वस्तुओं में समानता दिखाई जाय,

रचना में भी उनको समान ही स्थान मिलना चाहिए। समीकृत वाक्यों द्वारा रचना के इस सिद्धान्त का पालन बड़ी सुगमता से हो सकता है।

समीकृत वाक्यों का दूसरा प्रभाव एक प्रकार का सुखद विस्मय उत्पन्न करना है। समरूप वाक्यों द्वारा भिन्न भाव को प्रदर्शित करने से मन को आनन्द प्राप्त होता है और कुछ कुछ संगीत के लय-सुर का सा अनुभव होने लगता है। जब एक वाक्यांश द्वारा भिन्न परन्तु साथ ही नवीन भाव का उद्बोधन कराया जाता है, तब हमारे आनन्द और विस्मय की मात्रा बढ़ जाती है। जैसे यदि हम यह कहें कि 'यह अशक्य तो है, पर असम्भव नहीं' अथवा 'यह कठिन तो है, पर अशक्य नहीं' तो यहाँ 'अशक्य' और 'असम्भव' तथा 'कठिन' और 'अशक्य' के संयोग से वाक्यांश में एक प्रकार की विशेषता आ जाती है जो हमारे आनन्द और विस्मय का कारण होती है। इसी प्रकार को यदि हम और परिमार्जित करके केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न भिन्न स्थान दे दें, जैसे 'तुम्हारा कहना अविश्वसनीय है, पर असत्य नहीं, और उसका कहना असत्य है, पर अविश्वसनीय नहीं' तो वाक्यांश की सुन्दरता, आनददायिता और विस्मय-कारिता और भी बढ़ जायगी।

वाक्यों में सब से अधिक ध्यान रखने की वस्तु अवधारण का संस्थान है, अर्थात् इस बात का ध्यान रखना कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। साधारण नियम यह है कि जिस बात पर जोर देना हो, वह वाक्य के आदि अथवा अन्त में रखी जाय।

आदि मे रहने से वह पहले ही ध्यान को आकर्षित करती है और अन्त मे रहने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिये छोड देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण को आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य-गुण से सम्पन्न हो जाता है।

भारतीय शैली के आधार

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किंतु उनके अर्थों के भेद हैं, इस कारण इनका महत्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ ही लिया जाता है, परन्तु वाक्यों में पिरोए जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुसार वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनके सम्बन्ध में तो केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है, पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी अभिधा का कार्य हुआ। पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, ...ब कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को ...। शक्ति कहते हैं। इसका ...

शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसङ्ग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशबल, कालभेद, और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ 'जीवन' का अर्थ 'पानी' इस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोडकर किसी दूसरे अर्थ की इसलिये कल्पना करनी पडती है कि किसी वाक्य में उसकी संगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पडता है। जैसे—

अङ्ग अङ्ग नग जगमगत, दीप शिखा सी देह।
दिया बढाये हू रहै, बडो उँजेरो गेह॥

यहाँ बढाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता, और 'दीया बढाने' से मुहाविरे का अर्थ 'दीया बुझाना' करने से दोहे मे चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

फली सकल मन कामना, लूट्यौ अगनित चैन।
आजु अँचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अँचै और भये प्रफुल्लित, ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणत वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित ([illegible]) मनोकामना का फलना (पूर्ण [illegible] करना), हरि रूप का

आदि में रहने से वह पहले ही ध्यान को आकर्षित करती है और अन्त में रहने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिये छोड़ देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण को आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य-गुण से सम्पन्न हो जाता है।

भारतीय शैली के आधार

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किंतु उनके अर्थों के भेद हैं, इस कारण इनका महत्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ ही लिया जाता है, परन्तु वाक्यों में पिरोए जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुसार वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनके सम्बन्ध में तो केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है, पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ। पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, इसलिये जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता ...भिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस

शब्द का क्या अर्थ है, सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसङ्ग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशबल, कालभेद, और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ 'जीवन' का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिये कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी सगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पड़ता है। जैसे—

अङ्ग अङ्ग नग जगमगत, दीप शिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उँजेरो गेह॥

यहाँ बढ़ाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने मे दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता; और 'दीया बढ़ाने' से मुहाविरे का अर्थ 'दीया बुझाना' करने से दोहे में चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

फली सकल मन कामना, लूट्यौ अगनित चैन।
आजु अचै हरि रूप सखि, भये प्रफुलित नैन॥

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुलित, ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणत वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं, पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (

आदि में रहने से वह पहले ही ध्यान को आकर्षित करती है और अन्त में रहने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिये छोड़ देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण को आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य गुण से सम्पन्न हो जाता है।

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किंतु उनके अर्थों के भेद हैं, इस कारण इनका महत्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ ही लिया जाता है, परन्तु वाक्यों में पिरोए जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुसार वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनके सम्बन्ध में तो केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है, पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ। पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, इसलिये जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस

भारतीय शैली के आधार

शब्द का क्या अर्थ है, सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसङ्ग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशवल, कालभेद, और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ 'जीवन' का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोडकर किसी दूसरे अर्थ की इसलिये कल्पना करनी पडती है कि किसी वाक्य मे उसकी सगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पडता है। जैसे—

अङ्ग अङ्ग नग जगमगत, दीप सिखा सी देह।
दिया बढाये हू रहै, बडो उँजेरो गेह॥

यहाँ बढाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता, और 'दीया बढाने' मे मुहाविरे का अर्थ 'दीया बुझाना' करने से दोहे में चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

फली सकल मन कामना, लूट्यो अगनित चैन।
आजु अचै हरि रूप सखि भये प्रफुल्लित नैन॥

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुल्लित, ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणत वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते है, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं, पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरि रूप का

अचवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है। यहाँ ये सब शब्द अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उप-भेद माने गए हैं। विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, अर्थात् जिससे साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि 'तुम्हारे मुँह से शठता झलक रही है' और इसका उत्तर वह यह दे कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण-रूपी मुँह में प्रतिबिम्ब देखकर शठता की झलक देख ली, इससे वास्तव में तुमने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है, अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं। इसके भी अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं।

हमारे साहित्य शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोत्तम वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है, क्योंकि सब से अधिक चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य को एक प्रकार का अलङ्कार माना है, और हमारे यहाँ तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलङ्कार का बड़ा विस्तार किया गया है। सारांश यही है कि हमारे यहाँ शब्द की शक्तियों का विवरण देकर पहले उनको वाक्यो में विशेषता उत्पन्न करनेवाला माना और फिर अलकारो में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ानेवाले कहा है। हमारे यहाँ काव्यों के अनेक गुण भी गए हैं और उन्हें "प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रसधर्म"

कहा है। काव्य में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्यक सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रसों का सम्बन्ध हो जाता है। पर वास्तव मे ये गुण शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से सम्बन्ध रखते हैं।

यों तो हमारे शास्त्रियों ने अपनी विस्तार-प्रियता और श्रेणी-विभाग की कुशलता के कारण कई गुण माने हैं, पर मुख्य गुण तीन ही कहे गए हैं, यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गए हैं, जिन्हे वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ, गुणों के अनुसार ही, मधुरा, परुषा और प्रौढा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य रचना की भी तीन रीतियाँ वैदर्भी, गौडी और पाचाली मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देशभागों के नामो पर हैं, इससे जान पडता है कि उन उन देश भागो के कवियों ने एक एक ढग का विशेष रूप से अनुकरण किया है, अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रखे गए हैं। माधुर्य गुण के लिये मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिये परुपा वृत्ति और गौडी रीति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढा वृत्ति और पाचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों मे किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार रचना शैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा [सा]हित्य-भाण्डार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरम्भिक काल ही

अचवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है। यहाँ ये सब शब्द अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उप-भेद माने गए हैं। विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, अर्थात् जिससे साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि 'तुम्हारे मुँह से शठता झलक रही है' और इसका उत्तर वह यह दे कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण रूपी मुँह में प्रतिबिम्ब देखकर शठता की झलक देख ली, इससे वास्तव में तुमने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है, अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं। इसके भी अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं।

हमारे साहित्य शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोत्तम वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है, क्योंकि सब से अधिक चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य को एक प्रकार का अलङ्कार माना है, और हमारे यहाँ तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलङ्कार का बड़ा विस्तार किया गया है। साराश यही है कि हमारे यहाँ शब्द की शक्तियों का विवरण देकर पहले उनको वाक्यों में विशेषता उत्पन्न करनेवाला माना और फिर अलकारों में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ानेवाले कहा है। हमारे यहाँ काव्यों के ... गुण माने गए हैं और उन्हें "प्रधान रस

रचना करना कोई दोष नहीं माना जाता, बल्कि लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं। अब पदों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परन्तु

अलंकारों का स्थान

जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के सम्बन्ध में भी विवेचन करना आवश्यक है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलङ्कार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है, क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलङ्कार के न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुन्दरता और मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अन्तरात्मा और बाह्यालङ्कारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अन्तरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं, और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलङ्कार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुन्दर और मनोहर बना सकते हैं, परन्तु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान ग्रहण सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विच

समझना चाहिए। इसलिये गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना कोई विशेष ढग न होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक होने से हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य शैली का बहुत अधिक प्रभाव पड रहा है, और यह एक प्रकार से अनिवार्य है। इसी कारण हमने पहले अँगरेजी सिद्धातों के अनुसार शब्दों और वाक्यों के सम्बन्ध में विचार किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धातो का उल्लेख किया है। गुणों के सम्बन्ध में एक और बात का निर्देश कर देना आवश्यक है। रसो की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियो ने यह भी बताया है कि माधुर्य गुण शृगार, करुण और शात रस को, ओज गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस को, और प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है। पर विशेष विशेष प्रसङ्गों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे शृगार रस का पोषक माधुर्य गुण माना गया है। पर यदि नायक धीरोदात्त या निशाचर हो, अथवा अवस्था विशेष में क्रुद्ध या उत्तेजित हो गया हो, तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक और आनंद दायक होगा। इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसों की परिपुष्टि के लिये गौडी रीति का अनुसरण वाछनीय कहा गया है, पर अभिनय मे बडे बडे समासों की वाक्य रचना से दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत सम्भावना है। जिस बात के समझने में उन्हें कठिनता होगी, उससे चमत्कृत होकर अलौकिक आनद प्राप्त करना उनके लिये कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असम्भव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर नियत सिद्धात के प्रतिकूल

श्लेष और जहाँ एक शब्द अनेक बेर आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ भी दे, वहाँ यमक अलङ्कार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बेर प्रयोग होता है। कहीं व्यजन आपस में बार बार मिल जाते हैं, कहीं व्यजनो का एक प्रकार से एक बेर साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बेर साम्य होता है। पद के अन्त में आनेवाले सस्वर व्यजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अतर्गत माना जाता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। इन सब के बडे ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किए गए हैं। पर इनका तत्व यही है कि वर्णों की मैत्री, सयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलङ्कार माना गया है। अर्थालङ्कारों की सख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलङ्कार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं, अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्वो का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं, अर्थात् साम्य, विरोध और सान्निध्य से। जब समान पदार्थ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे मन पर अङ्कित हो जाता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षता हमारे मन पर जम जाती है। जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनन्तर और दूसरे को तीसरे के अनन्तर देखते हैं, अथवा एक साथ दो का अभ्युदय देखते हैं, तब हमारी मानसिक बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे

काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलङ्कारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलङ्कारों को ही सब कुछ मान लिया गया है, और लोगों ने उन्हीं के पठन पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलङ्कार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए, दूसरों के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलङ्कार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिये अलङ्कारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालङ्कार और दूसरा अर्थालङ्कार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलङ्कार आ जाते हैं, तो उनको उभयालङ्कार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालङ्कार पाँच प्रकार के माने जाते है। अर्थात्—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालङ्कार में शब्दों के निबन्धन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वाञ्छित क्रम से बैठाना ही इस अलङ्कार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पडता है। प्राय ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोडने मरोडने की भी आवश्यकता पडती है, अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेप और यमक में बहुत थोडा भेद है। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ

करना है । पदों से हमारा तात्पर्य वाक्यों के समूहों से है ।

पद विन्यास

किसी विषय पर कोई ग्रन्थ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य मुख्य विभाग कर लिए जाते हैं, जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय की प्रधान प्रधान बातें एक एक परिच्छेद में आ जायँ, उनकी आवृत्ति करने की आवश्यकता न पडे और न वे एक दूसरे को अतिव्याप्त करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से सबद्ध जान पडेंगे और प्रतिपादित विषय को हृदयगम करने में सुगमता होगी। परिच्छेदों में प्रधान विषयों को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पडता है जिसमे पदों की एक पूर्ण शृखला सी बन जाय। इस शृखला की एक कडी के टूट जाने से सारी शृखला अव्यवस्थित और असम्बद्ध हो सकती है। पदों मे इस बात का विशेष ध्यान रखना पडता है कि उनमे किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय, तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धात को सामने रखकर पदों की रचना आरम्भ करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे दो बातें विशेष ध्यान रखने की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध तथा सक्रमण, और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमश विकास

छाप जमाती जाती है और काम पड़ने पर स्मरण शक्ति की सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं। अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनन्तर हमारे ध्यान में अवस्थित होते हैं या जब उनमें से एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन मे उनका सम्बन्ध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते ही दूसरा आपसे आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थता कहते है।

हमारे यहाँ अलकारों की सख्या का ठिकाना नहीं है। उन्हें श्रेणीबद्ध करने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया है। इससे बिना आधार के चलने के कारण उनकी सख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात का ध्यान दिला देना आवश्यक है कि अलङ्कार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं है। अतएव वर्णित विषयों के आधार पर अलंकारों की रचना करके उनकी सख्या बढाना उचित नहीं है। स्वाभावोक्ति और उदात्त अलङ्कारों का सम्बन्ध वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलङ्कारों में नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगो ने अलङ्कारों की सख्या घटाकर ६१ भी मानी है, पर इनमें भी एक अलकार के अनेक भेद तथा उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तटस्थता के विचार से हम इन अलङ्कारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें के उपभेदों को घटाकर अलङ्कारों की सख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमको केवल पद-विन्यास के सम्बन्ध में कुछ विचार

और शब्दार्थालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अन्तरात्मा के अन्तर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुन्दर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं, अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं।

शैली के सम्बन्ध में अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में गद्य

वृत्त

और पद्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और संगीत-कला के पारस्परिक सम्न ध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम यह समझ चुके हैं कि ... समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्था- ... सुदृढ़ बनाए रहती है, तब इस बात का

या परिवर्तन। वाक्यो के सम्बन्ध और सक्रमण मे उच्छृंलता को बचाकर उन्हे इस प्रकार से सघटित करना चाहिए कि ऐसा जान पडे कि विना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावत खिसकते चले जा रहे हैं और अन्त मे परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये सयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बडे ध्यान और कौशल से काव्य या लेख मे लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पडे, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दो, वाक्यो और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणो या विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम वाक्यों के सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—का उल्लेख कर चुके है, तथा शब्दो, वाक्यों और पदों के सम्बन्ध में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणो को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक मे शक्ति—करुण और हास्य—को गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक निवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान पडता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक सगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पडते हैं। हमारे यहाँ के आचार्यों ने इन गुणों

शैली के गुण

और शब्दार्थालकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा सगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अन्तरात्मा के अन्तर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुन्दर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं, अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं।

शैली के सम्बन्ध में अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में गद्य और पद्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और सगीत-कला के पारस्परिक सम्बन्ध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध को सुदृढ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य सगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और सगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम यह समझ चुके हैं कि कविता समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक सबध स्थापित करती और उसे सुदृढ बनाए रहती है, तब इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि सगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के

वृत्त

या परिवर्तन। वाक्यों के सम्बन्ध और संक्रमण में उच्छृङ्खलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना चाहिए कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावत खिसकते चले जा रहे हैं और अन्त में परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शैली के गुण

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम वाक्यों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—का उल्लेख कर चुके हैं, तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के सम्बन्ध में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति—करुण और हास्य—को गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान पड़ता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक संगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ के आचार्यों ने गुणों

और शब्दार्थालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अन्तरात्मा के अन्तर्गत भावों को मुख्य स्थान देखकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुन्दर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं, अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं।

वृत्त

शैली के सम्बन्ध में अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में गद्य और पद्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और संगीत-कला के पारस्परिक सम्बन्ध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम यह समझ चुके हैं कि कविता समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाए रहती है, तब इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के

या परिवर्तन । वाक्यों के सम्बन्ध और सक्रमण में उच्छृंखलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से मर्यादित करना चाहिए कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावत खिसकते चले जा रहे हैं और अन्त में परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये सयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम वाक्यों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—का उल्लेख कर चुके हैं, तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के सम्बन्ध में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति—करुण और हास्य—को गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान पड़ता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक सगत, व्यापक और जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ के आचार्यों ने इन गुणों

शैली के गुण

उपसंहार यहाँ शैली विवेचन के सम्बन्ध में विशेष कर इसी विषय पर विचार किया जाता है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के ठेठ, संस्कृत या विदेशी शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करते हैं। मानो शब्दों की व्युत्पत्ति ही सब से महत्व की बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है, तब उनमें भावों, विचारों तथा शब्दों का परस्पर विनिमय होता ही है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहनसहन, सद्गुणों तथा दुर्गुणों तक का भी दूसरी जाति पर प्रभाव पड़ता है। वे इन बातों से लाख उद्योग करने पर भी बच नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा पीछा करने की क्या आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है, वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनका स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्दकुल में पूर्णतया सम्मिलित करके बिलकुल अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति इसी में है कि हम उन्हें अपने रंग में रँग कर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें विदेशीपन

इस अंग पर विशेष विचार किया है और इसका आवश्यकता से अधिक विस्तार भी किया है। संगीत कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने तथा भिन्न भिन्न सुरों और लयों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने के लिये हमारे यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा शब्दालंकारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों बातें भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्षसाधक हैं। परन्तु पिंगलशास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा उनका पारस्परिक संयोग, अथवा उसकी संख्या है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गए हैं—एक मात्रा-मूलक और दूसरे वर्ण-मूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु गुरु के विचार से मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना को सुगम करने तथा मात्राओं के तारतम्य को व्यवस्थित करने के लिये गणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों के प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छन्दों में जिन स्थानों पर वर्णों का उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है, अथवा जहाँ विश्राम की आवश्यकता होती है, उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है। ऐसे स्थानों को यति, विश्राम या विराम कहते हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आजकल हमारे

उपसंहार

यहाँ शैली विवेचन के सम्बन्ध में [illegible] विषय पर विचार किया जाता है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के ठेठ, संस्कृत तथा विदेशी शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करते हैं। भाषा शब्दों की व्युत्पत्ति ही सब से महत्व की बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है, तब उनमें भावों, विचारों तथा शब्दों का परस्पर विनिमय होता ही है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहनसहन, सद्गुणों तथा दुर्गुणों तक का भी दूसरी जाति पर प्रभाव पड़ता है। वे इन बातों से [illegible] उद्योग करने पर भी बच नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा पीछा करने की क्या आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्ण रूप, रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनका स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्दकुल में पूर्णतया सम्मिलित करके निःसंकुच अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति इसी में है कि हम [illegible] अपने रंग में रँग कर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें [illegible]

की झलक भी न रह जाय। यह हमारे लिये कोई नया काम नहीं होगा। बहुत वर्षों से, अनेक शताब्दियों से हम इस प्रकार की विजय करते आए हैं और अब हमें इसमें हिचकने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात जिस पर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, यह भ्रमात्मक विश्वास है कि शैली की कठिनता या सरलता शब्दों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं रहती। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।

यदि हम थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि व्याख्याता के रूप में आलोचक का क्या मत है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि व्याख्या का काम भी बहुत बड़ा और टेढ़ा है। किसी ग्रन्थ की व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा पूरा अध्ययन करना पड़ेगा, उसे ग्रन्थ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौन सी बातें साधारण और क्षणिक हैं और कौन सी बातें विशेषतायुक्त तथा स्थायी हैं। उसे इस बात का भी पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन कौन से सिद्धांत आदि हैं। उस ग्रन्थ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनका वह प्रकाश करेगा और उसमें इधर उधर बिखरे हुए तत्वों को एकत्र करके उन पर विचार करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रन्थ कैसा है। इस दशा में उस ग्रन्थ के गुण या दोष लोगों के सामने आपसे आप आ जायँगे। परन्तु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रन्थ को भी देखकर उसकी आलोचना कर सकता है और उसी विषय के दूसरे ग्रन्थों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस पर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परन्तु एक बात निश्चित है। वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे

यक होता है। कोई अच्छा आलोचक साधारण पाठकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान सपन्न होता है, उसका अध्ययन भी अधिक गभीर और पूर्ण होता है, और इसलिये वह किसी कवि या लेखक की कृति के भिन्न भिन्न अगों पर प्रकाश डालकर हमें अनेक नई बातें बतलाता और अनेक नए मार्ग दिखलाता है। वह हमारे मार्ग मे एक अच्छे मित्र और पथ-दर्शक का काम देता है। वह हमें सिखलाता है कि अध्ययन किस प्रकार सचेत होकर और आँखे खोलकर करना चाहिए। चाहे उसकी सम्मति और निर्णय से हम सहमत हों और चाहे न हों, पर इसमे सन्देह नहीं कि उसकी आलोचना से हम यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं और हमारा ज्ञान बहुत कुछ बढ सकता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आलोचना से दो काम होते हैं। एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है, और दूसरे उसके सम्बन्ध मे कोई मत स्थिर किया जाता है। बहुधा आलोचक इन दोनों कामों को एक साथ मिला देते हैं और व्याख्या के अन्तर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं। पर अब कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह कहने लगे है कि आलोचक का काम केवल कृति की व्याख्या करना है और उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस मत का दूसरों पर प्रभाव पडता है जिससे आगे चलकर आलोचना के काम में बाधा पडती है। पर यह मत उतना ठीक नहीं जान पडता। प्रत्येक व्यक्ति किसी ग्रन्थ के विषय में, उसकी आलोचना करने के साथ ही साथ अपना मत भी प्रकट कर सकता है और उसके उस मत से लोग लाभ भी उठा सकते हैं।

यदि हम थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि व्याख्याता के रूप में आलोचक का क्या मत है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि व्याख्या का काम भी बहुत बड़ा और टेढ़ा है। किसी ग्रन्थ की व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा पूरा अध्ययन करना पड़ेगा, उसे ग्रन्थ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौन सी बातें साधारण और क्षणिक हैं और कौन सी बातें विशेषतायुक्त तथा स्थायी हैं। उसे इस बात का भी पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन कौन से सिद्धांत आदि हैं। उस ग्रन्थ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनका वह प्रकाश करेगा और उसमें इधर उधर बिखरे हुए तत्वों को एकत्र करके उन पर विचार करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रन्थ कैसा है। इस दशा में उस ग्रन्थ के गुण या दोष लोगों के सामने आपसे आप आ जायँगे। परन्तु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रन्थ को भी देखकर उसकी आलोचना कर सकता है और उसी विषय के दूसरे ग्रन्थों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस पर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परन्तु एक बात निश्चित है। वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे

जिस प्रकार विचार करे, उसका एक मात्र उद्देश यही होगा कि वह स्वय उस ग्रन्थ तथा उसके कर्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे। हाँ, यह सम्भव है कि वह स्वय अपनी रुचि के अनुसार उसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का निर्णय न करे।

परन्तु पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है कि अमुक ग्रन्थ में जीवन की जो व्याख्या की गई है और जो दूसरी बातें बताई गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं, कला की दृष्टि से वह ग्रथ अच्छा है या नहीं, इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में आपसे आप उठते है और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उस ग्रन्थ को पढने से पहले कम से कम सचेत होने के लिये हमें ऐसे प्रश्नों के उत्तर जानना आवश्यक होता है। यहाँ इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि हम जो कुछ कह रहे हैं, वह कोरे वैज्ञानिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में नहीं कह रहे हैं, बल्कि साधारण साहित्य के सम्बन्ध में कह रहे है, क्योंकि नीति और कला आदि की दृष्टि से शुद्ध साहित्य पर ही विचार किया जाता है, भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र या दूसरे अनेक शास्त्रों और वैज्ञानिक ग्रथों का इस दृष्टि से विचार नहीं होता। भूगर्भ शास्त्र तो हमें केवल यही बतलाकर रह जाता है कि पृथ्वी का यह रूप किस प्रकार और कितने दिनों में हुआ, अथवा इसमें कितने समय में क्या परिवर्तन होता है। पर साहित्य का सम्बन्ध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है और इसी कारण उसके गुणों और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। भूगर्भशास्त्र के ग्रन्थ में भी गुण और दोष हो सकते हैं, पर

आलोचना का उद्देश्य

उन गुणों और दोषों का पता लगाना केवल मूगर्भ शास्त्र के पूर्ण परिडतों का ही काम है, साधारण पाठकों की शक्ति के यह बाहर है। साधारण साहित्य के सम्बन्ध में जहाँ गुण और दोषों का विवेचन होगा, वहाँ विवेचक या आलोचक का मत और निर्णय भी आप से आप आ जायगा।

"भिन्न रुचिर्हिलोक" वाले सिद्धान्त के अनुसार सभी लोग अलग अलग अपने मत के अनुसार किसी ग्रन्थ को अच्छा या बुरा बतलाते हैं। हमें जो कहानी अच्छी लगती है, सभव है कि वही आपको बिलकुल पसद न आवे। हमारी समझ मे जो नाटक किसी काम का नहीं है, उसी की और लोग लबी चौड़ी प्रशसा कर सकते हैं। जो मनुष्य कुछ भी समझ रखता है, वह किसी ग्रथ को पढने के समय उसके सम्बन्ध में अपनी कोई न काई, अच्छी या बुरी, सम्मति भी अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई मित्र हमें कोई नई पुस्तक लाकर पढने के लिये देता है, तब सब से पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है, और तब उसके उपरान्त हम स्वय उस पुस्तक को पढकर उसके सम्बन्ध में अपना भी कोई मत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढकर जो मत निश्चित किया जाता है, दो तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढने पर उस मत में परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों ज्यो हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों त्यो मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढती जाती है, और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें

पढ़ना चाहे और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहे तो अच्छे आलोचकों की सम्मतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन में राग द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन किन गुणों की आवश्यकता होती है।

आलोचक के आवश्यक गुण

सब से पहले समालोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए, और जिसमें ये सब गुण न हों, उसको समालोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रन्थ की बातों का मर्म समझ जायगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके बिलकुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निन्दा अथवा स्तुति में ही होगी, उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालो-

चक यदि विद्वान न होगा, तो वह ग्रन्थ के गुणों को न समझ सकेगा, यदि वह बुद्धिमान न होगा तो क्षीर नीर के विवेक में असमर्थ होगा, और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुणग्राहकता तो बहुत से लोगों में हो सकती और होती है, पर राग द्वेष या पक्षपात से बहुत ही कम लोग बचते या बच सकते हैं। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान और साहित्यज्ञ जान्सन के विषय में कहा जाता है कि जिन लेखकों के विचारों और सिद्धान्तों से उनकी सहानुभूति होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना तो वे बहुत ही ठीक ढंग से करते थे, पर जिनके विचारों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती थी, उनके ग्रन्थों की आलोचना के समय उनकी साहित्यिक जानकारी न जाने कहाँ चली जाती थी और वे बहुत बुरी तरह से उनकी खबर लिया करते थे। पोप और एडिसन के साहित्यिक आदर्शों का जान्सन बहुत आदर करते थे, इसलिये उनके जीवनचरितों में उन्होंने उनकी कृतियों की बहुत ही योग्यतापूर्वक आलोचना की है। पर राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन की और व्यक्तिगत द्वेष के कारण ग्रे की कृतियों में उन्हें कुछ भी गुण न दिखाई दिए। हमारे यहाँ हिन्दी में भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो कुछ विद्या और बुद्धि रखते हुए भी या तो पक्षपात-वश ग्रन्थों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर चलते हैं और या द्वेषवश उनकी धूल उड़ाने लगते हैं। बात यह है कि अनुचित पक्षपात और द्वेष दोनों ही मनुष्य की आँखों के आगे एक ऐसा परदा डाल देते हैं जिसके कारण या तो उन्हें दोषों और

गुणों का ठीक ठीक पता ही नहीं चलता, और या वे जान बूझकर उनकी ओर ध्यान नहीं देते। हम इस विषय में और अधिक कुछ न लिखकर केवल यही कहना यथेष्ट समझते हैं कि इस पक्षपात या द्वेष के कारण कभी कभी छोटे मोटे अनर्थ और अन्याय भी हो जाते हैं। किसी ग्रन्थ की पक्षपातपूर्ण समालोचना देखकर बहुत से लोग उन पुस्तकों के पढने में व्यर्थ अपना समय और धन गँवा सकते हैं, और द्वेषपूर्ण समालोचना के कारण वे ,किसी अच्छे ग्रन्थ से लाभ उठाने से वंचित रह सकते हैं। अत समालोचक के लिये पंडित और समझदार होने के अतिरिक्त निष्पक्ष होने की भी बहुत बडी आवश्यकता होती है। ऐसे समालोचक की समालोचना से ही साहित्य की भी उन्नति होती है और पाठकों का भी लाभ होता है।

समालोचक होने के लिये ऊपर बतलाए हुए कतिपय प्राकृतिक गुणों की तो आवश्यकता होती ही है, पर साथ ही समालोचना के लिये एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। कभी कभी देखने में आता है कि अच्छे अच्छे पंडित और विद्वान् उतनी अच्छी समालोचना नहीं कर सकते, जितनी अच्छी और सटीक समालोचना उनसे कम विद्या और योग्यता के लोग करते हैं। एक साधारण बुद्धिमान् पाठक भी कभी कभी किसी ग्रन्थ के संबंध में बहुत [illegible] ढंग से और बहुत ही उपयुक्त सम्मति प्रकट कर सक[illegible]
उस सम्मति तथा आलोचना [illegible]
पंडित चकित हो सकते हैं। [illegible]
है कि उसकी सम्मति विच[illegible]

पक्षपात आदि से बिलकुल शून्य होती है। यह ठीक है कि जिस व्यक्ति का काम ही प्राय अध्ययन और समालोचना करना है, वह समालोचना के नियमों और रीति आदि से विशेष परिचित होगा और उसका ज्ञान-भाडार भी साधारण पाठकों के ज्ञान-भाडार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होगा। पर उसकी आलोचना तभी काम की होगी जब उसमें आलोचना करने की शक्ति पूर्ण रूप से होगी और उसकी आलोचना राग द्वेष या पक्षपात आदि से मुक्त होगी। करने को तो आलोचना सभी लोग कर लेते हैं, पर आलोचना भी एक प्रकार की कला है और उसके लिये एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उसे अपने मन तथा विचारों पर भी अधिकार होना चाहिए। यदि उसमें इन बातों का अभाव होगा, तो वह न तो ठीक ठीक और न उदारतापूर्वक विचार कर सकेगा। उस दशा में उसकी आलोचना या सम्मति का भी कोई आदर न होगा।

तुलनात्मक आलोचना

अब हम एक दूसरे प्रकार की आलोचना के सम्बन्ध में, जिसे तुलनात्मक आलोचना कहते हैं, कुछ बातें बतलाना चाहते हैं। किसी एक पुस्तक की आलोचना करते समय कुछ लोग उसी विषय की और भी एक, दो या अनेक पुस्तकें अपने सामने रख लेते हैं, और उन पुस्तकों से तुलना करते हुए वे आलोच्य पुस्तक की आलोचना करते हैं। आलोचना का यह ढग बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे इस बात का पता लगता है कि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न लेखकों ने किस प्रकार विचार किया है, अपने अपने विचारों को उन लोगों ने किस प्रकार प्रकट किया है, किसकी रुचि और वर्णनशैली

कैसी है, किसमें किन बातों की विशेषता और किसमे किन बातों की न्यूनता है, इत्यादि इत्यादि। हमारे यहाँ अभी इस प्रकार की आलोचना का बहुत ही सूक्ष्म रूप से आरभ हुआ है। उदाहरण के लिये पडित पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना और पडित कृष्णविहारी मिश्र की देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना है। अभी इस प्रकार की आलोचना के लिये बहुत ही विस्तृत क्षेत्र खाली पडा है। जिस समय हमारे यहाँ इस प्रकार की यथेष्ट आलोचनाएँ हो जायँगी, उस समय हमारे साहित्य की केवल मनोरजकता ही नहीं बढ जायगी, बल्कि और भी अनेक प्रकार स उसकी उन्नति होगी, क्योंकि ऐसी आलोचनाएँ हमें विचार और रचना आदि के नए नए मार्ग दिखलाती हैं और साहित्य मे कूडा-कर्कट नहीं इकट्ठा होने देती।

इस प्रकार के आलोचनात्मक साहित्य का अध्ययन भी बडे काम का होता है। जब इस प्रकार का साहित्य प्रस्तुत हो जाता है, तब दूषित और अनुचित आलोचनाओं का मार्ग भी बद हो जाता है। ज्यों ज्यों इस प्रकार का साहित्य तैयार होता जाता है, त्यों त्यो उसकी मनोरजकता और उपयोगिता भी बढती जाती है, और अत मे ऐसे साहित्य का एक अलग इतिहास तैयार हो जाता है, जो साहित्य के इतिहास के परिशिष्ट का काम देता है। बात यह है कि ज्यों ज्यो समय बीतता जाता है और ऐसी आलोचनाएँ तैयार होती जाती हैं, त्यों त्यों लोगों की विचार शैली और मत भी बदलता जाता है। इस उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन के कारण आलोचनात्मक साहित्य को जो रूप प्राप्त होता है, वह शुद्ध साहित्य के अध्ययन और मनन में बहुत बडा

सहायक होता है। यदि ऐसे साहित्य को हम शुद्ध साहित्यिक क्रमागत इतिहास की कुंजी कहे तो कोई अत्युक्ति न होगी। अत हिन्दीवालों को अब इस प्रकार की आलोचना की ओर भी ध्यान देना चाहिए और तुलनात्मक आलोचना के साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए।

आलोचना और साहित्य सृष्टि

यह तो स्वत सिद्ध बात है कि आलोचना उन्हीं ग्रन्थों की होती है जो प्रस्तुत और प्रकाशित हो चुकते हैं। जो ग्रन्थ बने ही न हों, भला उनकी क्या आलोचना होगी। इसलिये कुछ विद्वानों का मत है कि आलोचना से केवल पुराने ग्रन्थों के गुण दोष ही प्रकट होते हैं, नवीन साहित्य उत्पन्न करने में उससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। कुछ लोगों का तो यहाँ तक मत है कि आलोचना से नए साहित्य की सृष्टि में बाधा होती है। पर यह मत ठीक नहीं है। यदि हम थोडी देर के लिये आलोचना को साहित्य की सृष्टि में बाधक भी मान लें, तो भी हम इस ससार-व्यापी नियम को दबा नहीं सकते कि बाधक तत्व भी प्रकारातर से साधक ही सिद्ध होते हैं। ससार मे सभी जगह हम देखते हैं कि सदा स्वतन्त्रता और शासन, व्यक्तित्व और नियम, पुराने और नए तथा लकीर पीटने और नई बात निकालने में एक प्रकार का विरोध चलता रहता है। पर फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि शासन कभी स्वतन्त्रता में बाधक होता है, अथवा लकीर पीटनेवालों के कारण कोई नई बात नहीं उत्पन्न होने पाती। दोनों पक्षों का झगडा सदा कुछ न कुछ चलता ही रहता है और जिस समय यह झगड़ा बहुत बढ़ जाता है, उसी समय

सिर से विकास और उन्नति होने लगती है। जिस समय स्वतन्त्रता की मात्रा बढते बढते उच्छृखलता का रूप धारण करने लगती है, उस समय कुछ कठोर शासन की आवश्यकता आ खडी होती है, और जिस समय शासन की कठोरता, भयकरता और उद्दडता बढ जाती है, उस समय नए सिर से स्वतन्त्रता की स्थापना होती है। साहित्य क्षेत्र में यही दशा नए ग्रन्थों की रचना और आलोचना की है। जिस समय लेखक मनमाने ढग से कलम चलाने लगते हैं और जी मे जो कुछ ऊटपटाँग आता है, सब लिख चलते हैं, जैसा कि आज कल हिंदी मे हो रहा है, उस समय आलोचक के अकुश की आवश्यकता होती है। आलोचना का अकुश लोगों को मनमाने रास्ते पर चलने से रोकता और ठीक मार्ग पर चलने के लिये बाध्य करता है। कुछ दिनों तक लोग आलोचकों के बतलाए हुए मार्ग पर चलते हैं, पर आगे चलकर उस मार्ग से उकता जाते हैं और आलोचक के शासन से निकलकर नए नए मार्ग ढूँढने लगते हैं। जब वे कोई नया मार्ग ढूँढ लेते हैं, तब आलोचक उस मार्ग के कटक आदि दूर करके उसे परिष्कृत करने लगते हैं और लोगों को गड्ढे में गिरने से बचाने का उद्योग करते हैं। बस यह क्रम, ससार के अन्यान्य क्षेत्रों के क्रम के अनुसार, सदा चलता रहता है। ऐसी दशा में यह कहना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता कि आलोचना साहित्य की सृष्टि में बाधक होती है। यदि वह एक प्रकार से बाधक भी होती हो, तो भी प्रकारातर से वह उस काम में अवश्य सहायक भी होती है। हाँ यह अवश्य है कि आलोचना सदा साहित्य के पीछे पीछे चलेगी और उसका नियन्त्रण तथा शासन करती

रहेगी। ससार में जब कोई नया आन्दोलन अथवा नई बात उत्पन्न होती है, तब उसके सबध में बहुत कुछ विरोध, टीका-टिप्पणी और आलोचना आदि होती है। पर धीरे धीरे विरोधी अथवा आलोचक अपने आपको नए विचारों और आदर्शों के अनुकूल बना लेते हैं और उन्हीं नए विचारों तथा नए सिद्धांतों के आधार पर नई नई बातें निकालकर नए ढग से लोगों को उनका अर्थ बतलाने लगते हैं। अत आलोचना से डरने या घबराने की कोई बात नहीं है। उसे सदा पथदर्शक और सहायक समझना चाहिए।

आलोचना और उपयोगिता

प्रत्येक आलोचक को किसी ग्रन्थ या लेख आदि के सबध में अपना मत प्रकट करने का पूरा पूरा अधिकार है। साथ ही उसे इस बात की भी स्वतन्त्रता है कि वह और लोगों को भी अपने मत से सहमत कराने का उद्योग करे। एक विद्वान् का मत है कि जब किसी ग्रंथ के सबध में बराबर के दो विद्वानों के परस्पर विरोधी मत होते हैं, उस समय एक की आलोचना और सम्मति का दूसरे की आलोचना और सम्मति से आपसे आप खडन हो जाता है और आलोचना का उद्देश ही सिद्ध नहीं होने पाता, क्योंकि हमें उस ग्रथ की उपयोगिता या अनुपयोगिता का कुछ भी पता नहीं लगने पाता। इसका कारण प्राय यही होता है कि ऐसे समालोचक बहुधा न्यायाधीश की भाँति नहीं, बल्कि वकील या प्रतिनिधि की भाँति अपना काम करते हैं और अपने पक्ष का आवश्यकता से अधिक समर्थन कर चलते हैं। यदि यह बात ठीक भी हो, तो भी हमें यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि

चना में जो मत प्रकट किया जाता है, वह प्राय' आलोचक का व्यक्तिगत और निजी मत होता है। यदि आप की सम्मति में कोई पुस्तक आदर्श और हमारी समझ में बहुत ही साधारण हो, तो यही माना जायगा कि उस सबध में आपकी और हमारी सम्मति बिलकुल व्यक्तिगत है। अब यदि कोई तीसरा व्यक्ति बीच में आ पड़े और हममें से किसी के अनुकूल या प्रतिकूल अपना मत प्रकट करे, तो उस समय मानों उस ग्रथ के सबध में एक और तीसरी व्यक्तिगत सम्मति सामने आ खडी होगी। तात्पर्य यह है कि सभी लोग अपनी अपनी योग्यता, विचार, रुचि और प्रवृत्ति आदि के अनुसार एक ही ग्रन्थ के सबध में अपना अलग अलग विचार प्रकट करेंगे, और उस दशा में इस बात का निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जायगा कि अमुक ग्रन्थ की वास्तविक महत्ता या उपयोगिता कितनी है अथवा वह कहाँ तक अच्छा या बुरा है।

लार्ड जेफ्रे ने स्काट के सबध में जो निबध लिखे हैं, उनमें से एक निबन्ध में उन्होंने कहा है—"काव्य का मुख्य उद्देश मन को आनन्द देना है। अत जिस काव्य से जितने ही अधिक मनुष्यों को आनन्द मिले, वह उतना ही श्रेष्ठ है।" पर यह मत सर्वथा ठीक नहीं। तुलसीदास कृत रामायण तो लाखों करोड़ों आदमी पढते हैं, और उन्हीं तुलसीदास की विनयपत्रिका से आनन्द उठानेवालो की सख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। यदि लार्ड जेफ्रे का उक्त मत ठीक मान लिया जाय तो फिर रामायण के आगे विनयपत्रिका का बहुत ही कम मूल्य या महत्व रह जायगा। पर जो लोग काव्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं, वे कह सकते हैं

कि तुलसीदास के समस्त ग्रन्थों मे काव्य की दृष्टि से विनयपत्रिका ही सर्वश्रेष्ठ है। चन्द्रकान्ता और चन्द्रका ता–सन्तति के आधे दर-जन से ऊपर सस्करण निकल चुके हैं। पर ठाकुर जगमोहनसिंह कृत श्यामास्वप्न को, जो उससे बहुत पहले का छपा हुआ है, आज तक दूसरे सस्करण का सौभाग्य भी नहीं प्राप्त हुआ। तो क्या इससे हम यह मान लें कि चन्द्रकान्ता उपन्यास बहुत अच्छा है और उसके सामने श्यामास्वप्न कोई चीज ही नहीं है? यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि एक मात्र सर्वप्रियता या प्रचार ही किसी ग्रन्थ की श्रेष्ठता का कोई प्रमाण नहीं है। जो वस्तु लाखों अशिक्षितों को बहुत अच्छी जान पडे, पर सौ दो सौ शिक्षितों की दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य न हो, अथवा अपेक्षा-कृत बहुत ही कम मूल्य हो, क्या उसी को आप श्रेष्ठ मानने के लिये तैयार होंगे? हमारी समझ में कदापि नहीं। अत यह सिद्धान्त निकलता है कि किसी ग्रन्थ की श्रेष्ठता, महत्ता या उप-योगिता आदि का ठीक ठीक पता लगाने के लिये हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध में शिक्षितों और परिष्कृत रुचिवाले समझदारों की क्या सम्मति है। यदि हम केवल सर्वप्रियता और प्रचार पर जायँगे, तो बहुत सभव है कि साहित्य के अमूल्य रत्न हमारे हाथ ही न लगें और झूठे पत्थर या शीशे के टुकडे ही हमारे पल्ले पडें। हमारे इस कथन का मुख्य तात्पर्य केवल यही है कि लोग अनेक प्रकार की आलोचनाओं के रहते हुए भी इस बात का निर्णय कर सकें कि कौन सा ग्रन्थ कहाँ तक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है।

ऊपर हमने जो विवेचन किया है, उसका मुख्य तात्पर्य यही

है कि आलोचनाओं में जो मत प्रकट किए जाते हैं, वे व्यक्तिगत रुचि के आधार पर होते हैं। इस व्यक्तिगत रुचि का एक और अग है, जिसका विचार कर लेना आवश्यक जान पडता है। हम आज कोई ग्रन्थ पढते हैं और उसके सबध में अपनी रुचि के अनुसार कोई मत स्थिर करते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या हमारा वही मत अतिम और निश्चित होता है, और क्या केवल उसी मत से सदा के लिये हमारा पूरा पूरा समाधान और सतोष हो जाता है? हम किसी पुस्तक को पढकर कह बैठते हैं कि यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पर क्या इतने से ही हमारा काम चल जाता है? कदाचित् नहीं चलता। यदि हम किसी ग्रन्थ का अवलोकन करके प्रसन्न हो जायँ, तो केवल हमारी वह प्रसन्नता ही उस पुस्तक के उत्तम होने के सबध में प्रमाण का काम नहीं दे सकती। उस पुस्तक को श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र देने से पहले हमे इस बात की जाँच कर लेनी चाहिए कि उस पुस्तक से हमारा प्रसन्न होना न्यायसगत था या नहीं। हमारी प्रसन्नता का वास्तविक कारण तो हमारी रुचि थी, और हमारी रुचि से भिन्न रुचि रखनेवालों को उस पुस्तक से कुछ भी आनद नहीं मिल सकता। बहुधा लोग पुस्तकों की उत्तमता की कसौटी अपना मत ही समझते हैं और रुचिवैचित्र्य का कोई ध्यान ही नहीं रखते। पर यदि एक बार उनके ध्यान में रुचि-वैचित्र्य का यह तत्व आ जाय, तो फिर उनके लिये उचित रूप से विचार करने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा, और उस दशा में विचार सबधी उनकी सकीर्णता और दुराग्रह बहुत कुछ कम हो जायगा। जब हम

मत-परिवर्तन

किसी पुस्तक के संबंध में यह न कहकर कि पुस्तक ऐसी है, यह कहेंगे कि यह पुस्तक हमारी सम्मति में ऐसी है, तब मानों हम उस पुस्तक के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं प्रकट करेंगे, बल्कि अपनी रुचि के सम्बन्ध में विचार प्रकट करेंगे। पर हाँ, इसके लिये कुछ उदारता और साहस की आवश्यकता होगी। अच्छे ग्रन्थों के गुण समझना कोई सहज काम नहीं है, और यही कारण है कि उसके अध्ययन से बहुत ही कम लोग प्रसन्न होते हैं, और जो लोग थोड़ा बहुत प्रसन्न होते भी हैं, वे बहुधा उनके छोटे मोटे गुणों को ही देखकर प्रसन्न होते हैं। इनमें भी बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो यह मानने के लिये जल्दी तैयार ही नहीं होते कि हममें इस ग्रंथ को समझने की योग्यता नहीं है, अथवा उसके विषय से हमारा परिचय नहीं है। परंतु उचित यही है कि हम किसी ग्रंथ के छोटे मोटे गुणों से ही सन्तुष्ट होकर न रह जायँ और उसमें भली भाँति अवगाहन करके उसके उत्कृष्ट गुणों से परिचित होने का उद्योग करें। केवल इसी दशा में हम उस ग्रन्थ के विषय में ठीक तरह से विचार कर सकेंगे और उसके सम्बन्ध में अपना ऐसा मत स्थिर कर सकेंगे जिसका सब लोग आदर करें। यहाँ हम किसी ग्रंथ की उत्तमता की एक और परीक्षा बतला देना चाहते हैं, साधारण पाठकों के लिये जिसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। किसी पुस्तक के सम्बन्ध में अपना विचार या मत स्थिर करने के लिये हमें वह पुस्तक कई बार पढ़नी चाहिए। यदि प्रत्येक बेर पढ़ने में कुछ और अधिक आनन्द आवे, यदि प्रत्येक बेर के पारायण में उसके कुछ विशेष गुणों और उत्तमताओं का परिचय मि[illegible]

हमें समझ लेना चाहिए कि वह ग्रन्थ बहुत अच्छा और ध्यान पूर्वक पढने के योग्य है। इसके विपरीत यदि उसे दूसरी या तीसरी बेर पढने में कम अथवा कुछ भी आनन्द न आवे, तो हमे समझ लेना चाहिए कि कम से कम हमारे लिये उस पुस्तक में कोई सार की बात नहीं है। पर यदि हम केवल अपनी ही रुचि को सर्वोपरि मान ले, तो फिर हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि हम किसी ग्रन्थ की आलोचना करने के अधिकारी नहीं हैं। सब से पहले हमें यह जानना चाहिए कि पुस्तकों से किस प्रकार आनन्द प्राप्त किया जाता है, और जब हमें यह बात मालूम हो जायगी, तब हम कभी अपने मत के सम्बन्ध में कोई आग्रह न करेंगे, क्योंकि उस दशा मे हम स्वयं अपनी ही त्रुटियों से भली भाँति परिचित रहेंगे। इससे दूसरा लाभ यह होगा कि हम अपनी वे त्रुटियाँ भी दूर कर सकेंगे। पर ये सब बातें उन्हीं लोगो के काम की हैं जो अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक साहित्य का अध्ययन करना चाहते हों। इस प्रकार के अध्ययन में वे लोग जितना परिश्रम करेंगे, उनको उतना ही लाभ होगा। पर जो लोग यह समझते हों कि हमें तो सब कुछ पहले से ही आता है और इस पुस्तक की क्या सामर्थ्य है जो हमें कोई नई बात बतला सके, उन्हे अपने सुधार और उन्नति की आशा छोड़ देनी चाहिए।

मान लीजिए कि हमने कोई पुस्तक पढी और उसके संबंध में अपना कोई मत भी स्थिर किया। अब हम जानना चाहें कि जो मत हमने स्थिर किया है, वह कहाँ तक ...
काम के ... पुस्तक की कुछ प्रतियाँ ...

ऐसे मित्रों में बाँट देते हैं जिनकी रुचि या योग्यता एक दूसरे से बहुत भिन्न है, और उन लोगों से उस पुस्तक के सम्बन्ध में सम्मति माँगते हैं। जब उन सब की सम्मतियाँ आ जायँगी, तब हम देखेंगे कि उन सब में आपस में बहुत बड़ा अन्तर और मत-भेद है। यद्यपि वे सब भिन्न भिन्न भिन्न दृष्टियों से उस पुस्तक पर विचार करेंगे, पर फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उस पुस्तक के महत्व या गुणों आदि के सम्बन्ध में उनमें से अधिकांश की सम्मति अनेक अंशों में एक दूसरे की सम्मति से मिलती जुलती होगी। यदि वह पुस्तक अच्छी होगी, तो हमारे अधिकांश मित्र भी उसकी प्रशंसा ही करेंगे। पर यदि वह पुस्तक साधारण कोटि की हुई, तो वे लोग भी उसे साधारण ही बतावेंगे। उस समय हम कह सकेंगे कि हमारे मित्रों ने किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया है और उनकी सम्मतियों का साधारण व्यक्तिगत सम्मतियों की अपेक्षा अधिक आदर होना चाहिए, क्योंकि वह सम्मति अधिक मत से स्थिर हुई है। अब जिस पुस्तक की हमारे दस पाँच मित्रों ने प्रशंसा की है, उसी की यदि कोई मित्र कुछ निंदा भी करे, तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी सम्मति पर भी कुछ विचार करें और यह जानने का उद्योग करें कि उसने ऐसी सम्मति क्यों और किन आधारों पर दी है। और यदि भली भाँति विचार करने के उपरांत भी हमें उसके मत की पुष्टि करनेवाली कोई बात न मिले अथवा बहुत ही कम बातें मिलें, तो हमें समझ लेना चाहिए कि या तो उसने किसी प्रकार के द्वेष के कारण और या किसी प्रकार की अज्ञानता के कारण वह सम्मति दी है। आप पूछ सकते हैं कि हमारे इस उदाहरण से क्या

सिद्धांत निकला। इससे यह सिद्धांत निकला कि किसी ग्रन्थ का महत्व या उपयोगिता आदि किस प्रकार प्रमाणित होती है। इसका तात्पर्य यही है कि किसी ग्रन्थ की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता आदि के सम्बन्ध में बहुत से शिक्षितों और समझदारों की जो सम्मति हो, वही मान्य होनी चाहिए। और यदि थोड़े से लोग उसके विपरीत अपनी सम्मति प्रकट करें, तो पहले हमें उनकी सम्मति पर विचार करना चाहिए, और यदि उनकी सम्मति में हमें तत्व की कोई बात न मिले तो हमें वह सम्मति अग्राह्य समझकर छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि जो ग्रन्थ अनेक आलोचकों की परीक्षा में ठीक उतरा हो और जिसके संबध में बहुत कुछ वादविवाद के उपरांत भी लोगों की अनुकूल सम्मति हो, उसे उत्तम ग्रन्थ मानने में हमें कोई आनाकानी न होनी चाहिए। सारांश यह है कि बहुत कुछ विकट परीक्षाओं के उपरांत भी जो ग्रन्थ अच्छा ही ठहरे, वह तो अच्छा है ही, और जो उन विकट परीक्षाओं में अच्छा न ठहरे, वह साधारण या निकम्मा है।

स्थायी साहित्य के गुण

एक बहुत प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जो वस्तु सब से अच्छी या उपयुक्त होती है, वही संसार में बच रहती है, और जो अनावश्यक या अनुपयुक्त होती है, वह नष्ट हो जाती है। साहित्य क्षेत्र में भी इस सिद्धान्त की सत्यता बहुत भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। आज यदि कोई अच्छा ग्रन्थ प्रकाशित होता है, तो सर्वसाधारण में उसका बहुत आदर होता है, और जब तक लोगों का उससे मनोरञ्जन होता रहता है, तब तक वह पुस्तक बराबर चलती रहती है, उसका अस्तित्व

बराबर बना रहता है। पर जब उस पुस्तक मे लोगों का मनोरञ्जन होना बन्द हो जाता है, तब उसकी उपयोगिता जाती रहती है और उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। जिस समय उसका स्थान ग्रहण करने के लिये उससे अच्छी कोई पुस्तक साहित्य-क्षेत्र में आ जाती है, उस समय लोग उसका पढना सर्वथा बन्द कर देते हैं। यही नहीं बल्कि कुछ दिनो के उपरान्त लोगों को इस बात का आश्चर्य होने लगता है कि किसी समय उस पुस्तक का जो आदर हुआ था, वह क्यो हुआ था' पर जो पुस्तकें केवल सामयिक नहीं होती- जिनमें बहुत दिनो तक काम आनेवाली बातें अथवा और कोई स्थायी गुण होत हैं, वे सैंकड़ों और कभी कभी हजारो वर्षों तक बनी रहती हैं, और लोगो के विचारों, सभ्यता और रुचि आदि के बहुत कुछ बदल जाने पर भी उनका अध्ययन निरन्तर होता चलता है। इसका कारण यही है कि हमारे नैतिक और मानसिक जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाने पर भी उनमें प्रकट किए हुए विचार आदि हमारे लिये अनुकूल, लाभदायक और ग्राह्य बने रहते हैं। जिस समय वे पुस्तकें रची जाती हैं, उस समय की दृष्टि से तो वे उपयोगी होती ही हैं, उसके पीछे भी बहुत दिनों तक उनकी ,उपयोगिता बनी रहती है। बहुत समय बीत जाने पर भी उनमें लोगों को उत्साहित और प्रसन्न करनेवाले तत्व वर्तमान रहते हैं। जब इस प्रकार किसी पुस्तक का बहुत दिनों तक अस्तित्व बना रहता है और सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी लोग बडे चाव से उसे पढते चलते हैं, तब मानों वह पुस्तक व्यक्तिगत सम्मतियों और आक्षेपों आदि के क्षेत्र से बाहर निकल जाती है और उसकी उपयोगिता तथा उत्तमता

सर्वमान्य हो जाती है। फिर उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद या विवाद नहीं रह जाता। इसी कोटि के ग्रन्थ साहित्य क्षेत्र में रत्न कहलाने के अधिकारी होते हैं और सभी देशो तथा सभी युगों में उनका समान आदर होता है।

साहित्य की महत्ता का सब से बडा प्रमाण उसका स्थायी होना है। पर यह प्रमाण हमे उन्हीं ग्रन्थों के संबध में मिल सकता है, जो आज से दो चार सौ या हजार दो हजार वर्ष पहले के बने हों। अब जो ग्रन्थ बहुत थोडे दिनो के बने हों, उनकी उपयोगिता की परीक्षा किस प्रकार हो सकती है? ऐसे किसी ग्रथ को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि तुलसीकृत रामायण की भाँति तीन सौ वर्ष बीत जाने पर उस ग्रथ की क्या दशा होगी। फिर भी हम अपने ज्ञान और अनुभव की सहायता से किसी ग्रन्थ के विषय मे यह कह सकते हैं कि वह स्थायी होगी या नहीं। पर हमारा यह कथन बिलकुल ठीक और निश्चित नहीं हो सकता, क्योकि हम यह नहीं कह सकते कि आगे चलकर पाठको की रुचि में कहाँ तक परिवर्तन हो जायगा, और शीघ्र ही इससे भी अच्छे और स्थायी ग्रथों की रचना हो जायगी या नहीं। अत. आधुनिक साहित्य की उपयोगिता जानने के लिये हमें आलोचको की सम्मतियों का ही सहारा लेना पडेगा। एक विद्वान् का मत है कि यदि तुम अच्छी और पढने योग्य पुस्तक देखना चाहो, तो बाजार मे जाकर कोई पुस्तक देखो, और बारह वर्ष के उपरात फिर बाजार में जाओ। उस समय यदि वही पुस्तक फिर तुम्हे बिकती हुई दिखाई दे, तो जान लो कि वह पुस्तक अच्छी और पढने के योग्य है। इससे भी यही सिद्धान्त

निकलता है कि जो पुस्तक जितने ही अधिक समय तक बनी रहे, वह उतनी ही अच्छी है। पर इन सिद्धातो से साधारण पाठकों का काम नहीं चल सकता। आप सब लोगो से यह आशा नहीं कर सकते कि वे किसी पुस्तक के प्रकाशित होने के उपरात बारह वर्षों तक उसकी उपयोगिता के प्रमाण की प्रतीक्षा करें और तब उसके उपरात वे उसे लकर पढ़ें। आज कल तो पुस्तकों के तैयार होते ही लोग उनको पढकर उनके विषय की सब बातें जानना चाहते हैं। ऐसे लोग यदि यह जानना चाहें कि कौन सी पुस्तक पढने योग्य अथवा अच्छी है और कौन सी न पढने योग्य और निकम्मी है, उनको यही देखना चाहिए कि किसी पुस्तक के सबध में अधिकाश विद्वानों और आलोचकों की क्या सम्मति है।

अन्त मे हम यही कहना चाहते हैं कि पुस्तकों के महत्व और उपयोगिता आदि का निर्णय करना बहुत ही कठिन है।

उपसहार

किसी पदार्थ को देखकर उसका वास्तविक स्वरूप समझना केवल कठिन ही नहीं, प्राय असभव भी है। हम तो अपनी योग्यता, सस्कार और रुचि आदि के अनुसार ही उसका स्वरूप समझेंगे। साहित्य के महत्व का निर्णय करने के लिये चाहे हम कितने ही निष्पक्ष क्यो न बन जायँ, पर हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य की सृष्टि सदा व्यक्तियों से होती है, और उसमें जो कुछ कहा जाता है, वह भी व्यक्तियो के उद्देश्य से ही। उसमे अनेक विषयों पर अनेक प्रकार से विचार होता है। उससे लोगो मे उत्तेजना फैलती है, सहानुभूति भी उत्पन्न होती है, मनोराग भी उत्पन्न होते हैं और इसी प्रकार की और न जाने कितनी बातें




होती हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य का प्रभाव बहुत कुछ रुचि पर भी अवलंबित रहता है, और इसी लिये सब कठिनाइयों को पार करने के उपरांत भी यहाँ आकर साहित्य का विवेचन करने-वाले को हार माननी पड़ती है। आलोचना से हम व्यक्तित्व और रुचि-वैचित्र्य को कभी अलग नहीं कर सकते और हमें मानना पड़ता है कि इसमें मतभेद का होना सर्वथा अनिवार्य है। इससे किसी को दु:खी नहीं होना चाहिए, बल्कि यह तो एक प्रकार से प्रसन्नता और सन्तोष की बात है। अन्त में फिर वही रुचि की प्रधानता का प्रश्न हमारे सामने आता है। पर इस संबंध में भी हम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि शिक्षा और संयम आदि की सहायता से हम अपनी रुचि में भी बहुत कुछ सुधार करके उसे संस्कृत कर सकते हैं। यदि हम साहित्य के अध्ययन से पूरा पूरा लाभ उठाना या आनन्द प्राप्त करना चाहें, तो हमें विद्वानों के दिखलाए हुए मार्ग पर आप से आप चलने का उद्योग करना चाहिए। बिलकुल दूसरों के भरोसे न तो कोई काम हो सकता है और न होना ही चाहिए।

उन ग्रंथों के नाम जिनसे इस पुस्तक के प्रणयन में सहायता ली गई है।



(१) जगन्नाथ पडितराज—रसगगाधर।
(२) धनजय—दशरूपक।
(३) मम्मट—काव्य प्रकाश।
(४) विश्वनाथ कविराज—साहित्य दर्पण।
(५) Bain—Rhetoric, The Emotion and the Will.
(६) Dewy—Psychology,
(७) Hudson—An Introduction to the Study of Literature,
(८) Keith—The Vedic Akhyana and the Indian Drama J R A S 1911
(९) Macdonell—Sanskrit Literature
(१०) Minto-Manual of English Prose Literature
(११) M M Har Prasad Shastri—The Origin of Indian Drama J A S B 1909
(१२) Rawlinson—Foreign influence in the Civilization of Ancient India 900 B C -400 A D
(१३) Ridgeway—Dramas and Dramatic Dances
(१४) Vaswani—The Secret of Asia
(१५) Worsfold—Judgement in Literature

(१६) Encyclopædia Britanica–Articles on Poetry, Drama, and Fine Arts
(१७) Encyclopædia of Ethics and Religion—Article on Drama
(१८) प० रणछोड़ भाई उदयराम—नाट्य-शास्त्र।
(१९) प० अयोध्यासिंह उपाध्याय प्रियप्रवास।
(२०) प० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री—रसवाटिका।
(२१) बा० गुलाबराय – नवरस।
(२२) बा० जगन्नाथदास रत्नाकर—हरिश्चंद्र काव्य।
(२३) बा० जगन्नाथप्रसाद भानु–छंद प्रभाकर, काव्य प्रभाकर।
(२४) भारतेंदु हरिश्चंद्र—सत्य हरिश्चंद्र, मुद्राराक्षस नाटक।
(२५) प० महावीरप्रसाद द्विवेदी—नाट्य-शास्त्र।
(२६) प० रामचन्द्र शुक्ल—बुद्ध-चरित।
(२७) प० रामनरेश त्रिपाठी—कविता-कौमुदी भाग १, २।
(२८) प० लोचनप्रसाद पांडेय—कविता-कुसुम-माला।
(२९) प० श्रीधर पाठक—मनोविनोद।
(३०) प० सत्यनारायण कविरत्न–उत्तररामचरित, मालती माधव।
(३१) सरस्वती पत्रिका।
(३२) नागरीप्रचारिणी पत्रिका।

अनुक्रमणिका



(१६) Encyclopædia Britanica–Articles on Poetry, Drama, and Fine Arts
(१७) Encyclopædia of Ethics and Religion—Article on Drama
(१८) प० रणछोड भाई उदयराम—नाट्य-शास्त्र ।
(१९) प० अयोध्यासिंह उपाध्याय प्रियप्रवास ।
(२०) प० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री—रसवाटिका ।
(२१) बा० गुलाबराय - नवरस ।
(२२) बा० जगन्नाथदास रत्नाकर—हरिश्चंद्र काव्य ।
(२३) बा० जगन्नाथप्रसाद भानु–छन्द प्रभाकर, काव्य प्रभाकर।
(२४) भारतेंदु हरिश्चंद्र—सत्य हरिश्चंद्र, मुद्राराक्षस नाटक ।
(२५) प० महावीरप्रसाद द्विवेदी—नाट्य-शास्त्र ।
(२६) प० रामचन्द्र शुक्ल—बुद्ध-चरित ।
(२७) प० रामनरेश त्रिपाठी—कविता-कौमुदी भाग १, २ ।
(२८) प० लोचनप्रसाद पांडेय—कविता-कुसुम-माला ।
(२९) प० श्रीधर पाठक—मनोविनोद ।
(३०) प०सत्यनारायण कविरत्न–उत्तररामचरित,मालती माधव।
(३१) सरस्वती पत्रिका ।
(३२) नागरीप्रचारिणी पत्रिका ।



अनुक्रमणिका





साहित्य-रत्न-माला की दूसरी पुस्तक

भाषा-विज्ञान

राय साहब बा० श्यामसुंदरदास बी० ए० लिखित

मनुष्य किस प्रकार भाषण करता है, उसके भाषण का किस प्रकार विकास होता है, उसके भाषण और उसकी भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप ही और का और हो जाता है, आदि अनेकानेक प्रश्नों का बहुत ही सरल, स्पष्ट और मनोहर निराकरण इस भाषा विज्ञान नामक पुस्तक में किया गया है। इस ग्रन्थ में नीचे लिखे दस प्रकरण हैं—(१) विषय प्रवेश। (२) भाषा और भाषण। (३) अवस्थाएँ और समुदाय। (४) प्राचीन आर्य्य भाषाएँ। (५) आधुनिक आर्य्य भाषाएँ। (६) भाषाओं का रूपात्मक विकास। (७) भाषाओं का भावात्मक विकास। (८) प्राचीन आर्य्य भाषाओं का विकास। (९) आधुनिक देश भाषाओं का विकास और (१०) हिन्दी भाषा का विकास।

यदि आप भाषा विज्ञान तथा भारत की प्राचीन और आधुनिक भाषाओं का और विशेषतः हिंदी भाषा का वास्तविक स्वरूप और पुराना इतिहास जानना चाहते हों तो यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ें। मूल्य ३)

रामचन्द्र वर्म्मा,
साहित्य-रत्न माला कार्यालय,
बनारस सिटी

साहित्य-रत्न-माला की तीसरी पुस्तक

बौद्ध-कालीन भारत

लेखक—श्रीयुक्त पं० जनार्दन भट्ट एम० ए०

जिन लोगों ने इस माला का **"साहित्यालोचन"** और **"भाषा विज्ञान"** ध्यानपूर्वक पढ़ा है, उनसे इसके संबंध में हम केवल यही निवेदन करना चाहते हैं कि उक्त दोनों पुस्तकों की भाँति यह तीसरी पुस्तक भी बहुत ही उच्च कोटि की हुई है और इसने भी स्थायी साहित्य में स्थान पाया है। अँग्रेजी तथा हिन्दी आदि के सैंकड़ों उत्तमोत्तम ग्रन्थों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन और मनन करके यह पुस्तक बहुत ही परिश्रमपूर्वक लिखी गई है। हिंदी के सभी बड़े बड़े विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बहुत अधिक प्रशंसा की है और इसे बहुत उच्च कोटि का ग्रन्थ कहा है। यह पुस्तक ऐतिहासिक होने पर भी उपन्यास का सा आनन्द देती है। साहित्य-प्रेमियों को और विशेषतः इतिहास-प्रेमियों को इसकी एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। पृष्ठ संख्या चार सौ से ऊपर है। बढ़िया एण्टिक कागज की जिल्द बँधी प्रति का मूल्य ३) और अच्छे चिकने कागज पर छपी सादी पुस्तक का मूल्य २) है।

साहित्य-रत्न-माला के स्थायी ग्राहकों से डाक व्यय नहीं लिया जाता। आज ही एक कार्ड भेजकर स्थायी ग्राहकों में अपना नाम लिखाइए। हम विश्वास दिलाते हैं कि इस माला की कोई पुस्तक खरीद कर आपको पछताना नहीं पड़ेगा।

रामचन्द्र वर्म्मा,

साहित्य-रत्न-माला कार्य्यालय, बनारस सिटी।

प्रकीर्णक पुस्तकमाला

साहित्य-रत्नमाला में तो बड़ी बड़ी पुस्तकें निकाली जाती हैं, और छोटी पुस्तकों के लिये हमने एक प्रकीर्णक पुस्तकमाला भी निकाली है। इसकी पहली पुस्तक

(१) वैज्ञानिक साम्यवाद

है। इस पुस्तक में संक्षेप में यह बतलाया गया है कि साम्यवाद वास्तव में क्या है, उसकी उपयोगिता क्या है और उसके सिद्धांतों के अनुसार कार्य्य होना क्यों आवश्यक तथा अनिवार्य्य है। साम्यवाद आज कल के बहुत बड़े और संसारव्यापी आन्दोलनों में से एक है, अतः उसके स्वरूप से सबको अभिज्ञ होना चाहिए। यह पुस्तक आपको साम्यवाद का स्वरूप समझने में बहुत सहायता देगी। मूल्य ≡)

(२) हिंदी भाषा का विकास

साधारण पाठकों और विद्यार्थियों के सुभीते के लिये हमने **"हिंदी भाषा का विकास"** नाम की एक छोटी पुस्तक अलग भी छपवा ली है। इसमें भाषा विज्ञान के दसवें अध्याय की तो सब बातें दी ही गई हैं, पर साथ ही आरंभ में विषय को स्पष्ट करने के लिये प्राचीन भारतीय आर्य्यों के भारत आगमन तथा संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है। हिंदी भाषा का इतिहास

और स्वरूप समझने मे आपको जितनी अधिक सहायता इस पुस्तक से मिलेगी, उतनी शायद ही किसी और हिंदी पुस्तक से मिल सकेगी। विशेषत विद्यार्थियो के लिये तो यह पुस्तक बहुत ही काम की है। इसकी पृष्ठ संख्या १३२ है और मूल्य केवल ॥=) है। पर जो लोग "भाषा-विज्ञान" मँगवावें, उनके लिये यह पुस्तक लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(३) जातक कथामाला

बौद्ध साहित्य में जातकों का स्थान बहुत ऊँचा है, क्योंकि बौद्धों के मत मे जातकों की कथाएँ भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ है और समय समय पर उन्हीं के मुँह से निकली हैं। उन्हीं कथाओं मे से ४५ बहुत ही अच्छी और शिक्षाप्रद कहानियों का संग्रह इस पुस्तक में है। इसमे नीति और धर्म्म की जो शिक्षाएँ मिलती हैं, वे बहुत ही उच्च कोटि की हैं और सर्व साधारण के लिये विशेष रूप से समाह्य हैं। विशेषत. बालकों और नवयुवकों के लिये तो यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। विद्यार्थियो को पढाने और पुरस्कार मे देने के लिये बहुत अच्छी है। कई प्रान्तों में सरकारी स्कूलों के पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत हो चुकी है। मूल्य केवल १)

रामचन्द्र वर्म्मा,

साहित्य रत्नमाला कार्यालय,

बनारस सिटी।

भारतवर्ष का इतिहास

(मैट्रिकुलेशन परिक्षा के लिये)

लेखक—श्रीयुक्त पाण्डय रामावतार शर्मा बी० ए० विशारद

भारतवर्ष का यह इतिहास बिहार की मैट्रिकुलेशन परीक्षा के लिये तैयार होनेवाले विद्यार्थियों के लिये बनाया गया है और इस दृष्टि से यह परम उपयोगी तथा सर्वश्रेष्ठ इतिहास हुआ है। सरकारी तथा प्राइवेट स्कूलों में पढनेवाले विद्यार्थी इसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं और इससे बहुत अधिक लाभ उठा सकते हैं। शिक्षा विभाग में काम करनेवाले अनेक बडे बडे विद्वानों ने इसकी बहुत अधिक प्रशंसा की है और इसे विद्यार्थियों की पढाई के लिये परम उपयोगी बतलाया है। स्कूलों के पुस्तकालयों में रखने और विद्यार्थियों को इनाम में देने के लिये भी बहुत ही उपयुक्त है। बढिया चिकने कागज पर बहुत सुन्दर छपाई हुई है। पृष्ठ संख्या ४००, ४८ चित्र, ९ नकशे और ४ वंशावलियाँ। बहुत सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। मूल्य केवल १॥।)

रामचंद्र वर्मा,

साहित्य-रत्न माला कार्यालय,

बनारस सिटी।

आधुनिक

इँग्लैण्ड का इतिहास

लेखक—श्रीयुक्त बा० शिवचन्द्र कपूर एम० ए० एम० आर० ए० एस०

यह पुस्तक सयुक्त प्रान्त के हाई स्कूलों के विद्यार्थियों को आधुनिक इँग्लैण्ड के इतिहास का पूरा पूरा और ठीक ज्ञान कराने के लिये बहुत परिश्रम से लिखी गई है और उच्च क॰ के लिये बहुत ही उपयुक्त हुई है। प्रयाग के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्रीयुक्त डाक्टर वेणीप्रसाद जी एम० ए० पी-एच०-डी० ने इसकी प्रस्तावना लिखी है और शिक्षा विभाग के अनेक अनुभवी कार्यकर्ताओं ने इसे बहुत ही पसन्द किया है। सयुक्त प्रान्त के हाई स्कूलों में इसका प्रचार बहुत शीघ्रता के साथ बढ रहा है, यह इसकी उपयोगिता का सब से अच्छा प्रमाण है। इसमें विद्यार्थियों के जानने योग्य सभी बातें दी गई हैं। विद्यार्थियों के सुभीते के लिये पुस्तक दो भागों में विभक्त की गई है। पहले भाग का मूल्य ॥।≈) और दूसरे भाग का ॥।) है। एक ही जिल्द बँधे दोनों भागों का मूल्य १॥।)